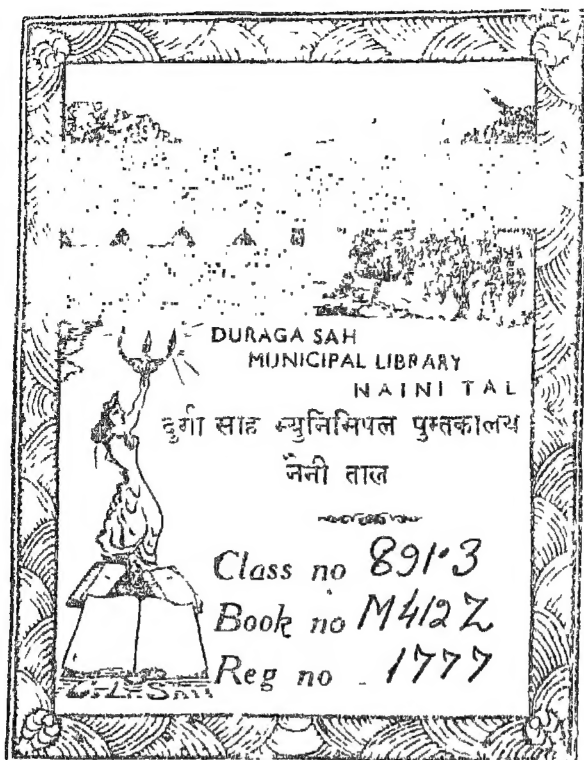


राजनैतिक उपन्यास

ज़िच

लेखक

मन्मथनाथ गुप्त



किताब महल

इलाहाबाद

मूल्य १)

प्रथम संस्करण

संवत् २००३

प्रकाशक—किताब महल, ५६-ए, ज़ीरो रोड, इलाहाबाद ।

मुद्रक—रामभरोस मालवीय, 'अभ्युदय' प्रेस, इलाहाबाद ।

परिचय

१६४२ के तलस्पर्शी जनान्दोलन ने दूर-दूर तक फैले हुए देश के विभिन्न क्रांति-सूत्रों को इस प्रकार इकट्ठा कर दिया कि विदेशी सरकार सारी शक्ति लगाकर ही उसे दबा पाई। जनता ही इस आन्दोलन की मुख्य पात्र थी। सहस्रों अज्ञात-नाम कुल-शील तरुण-तरुणियाँ बलिदान की भावना से घर की चहार-दीवारी तोड़ बाहर आ गये। उन्होंने त्याग और तपस्या की नई लीक स्थापित की।

परन्तु इस महान आन्दोलन का इतिहास अभी लिखा नहीं गया है। जो कृती थे, उनमें से कितने नई क्रांति के ताने-बाने बुन रहे हैं। प्रसिद्ध क्रांतिकारी नेता श्री मन्मथनाथ गुप्त का यह उपन्यास इसी जनता के आन्दोलन के कुछ पृष्ठ हमारे सामने उपस्थित करता है। इसके इने-गिने पात्र कौशिक, तारा, डाक्टर प्रेमनाथ इस आन्दोलन में भाग लेने वालों के प्रतीक-मात्र हैं।

सामाजिक राजनैतिक बीथिका को लिये हुए प्रेम और त्याग की यह नई कहानी आपका मनोरंजन करेगी।

कौशिक (१)

मैं रोगशय्या पर पड़ा हूँ। कोई विशेष रोग नहीं, योंही थोड़ा-सा ज्वर आ गया है। नहीं, सिर दर्द नहीं है, सिर दर्द होता तो मेरे लिये नरक ही हो जाता, किन्तु ज्वर जोंक-सा लग गया है, पीछा नहीं छोड़ता। मालूम होता है सब खून पीकर तभी छूटेगा। जब देखो तब ६६° से कुछ ज़्यादा रहता है। बीमारी इतनी अधिक नहीं है कि पड़ा-पड़ा कराहता रहूँ, किन्तु इतनी कम भी नहीं कि बाहर निकलकर मटरगश्ती करता फिरूँ। डाक्टरों की सख्त मुमानियत है कि कहीं आऊँ-जाऊँ नहीं। जाने को मेरा जी भी नहीं चाहता। साफ़ बिछौने पर लेटे-लेटे मैं मुक्त आकाश की ओर देखता रहता हूँ। वर्षा काल का आकाश होता तो देखने लायक़, मगर...। जो लगे तब न? बादल आते-जाते हैं, आकाश के वक्ष पर हर तरीक़े के चित्र-विचित्र नक़्शे बनाते हैं, और फिर मिटाकर शायद इस नश्वर जगत की याद दिलाकर चल देते हैं। कभी यह बहुत अच्छा लगता था, किन्तु अब बादलों की यह लीला बेमानी मालूम देती है। हमेशा सूर्योदय और सूर्यास्त के समय विशेषकर मैं इनकी प्रतीक्षा करता था क्योंकि ऐसे समय ये बादल खास रंग लाते हैं। सच बात तो यह है कि सूर्यास्त और सूर्योदय का मज़ा तो तभी होता है जब आकाश में थोड़े-थोड़े मेघ हों। मेघहीन आकाश में कोई सौंदर्य नहीं होता। जो

कुछ भी हो मुझे इस समय किसी बात में मज़ा नहीं आता था। साथ ही मेरे मन में कोई कष्ट नहीं था। आखिर बादलों से हमें क्या मतलब ? फिर भी मैं उन्हीं की ओर देखा करता। शायद पुराने अभ्यास के वश।

मेरे जँगले से बाहर की सड़क भी दिखाई पड़ती थी। कभी-कभी जब लेटे-लेटे जी ऊब जाता तो मैं उठकर एक मोढ़े पर जँगले के पास बैठ जाता। मुझे यह देखकर बड़ा ताज्जुब होता, और कुछ दु:ख भी होता था कि दुनिया जैसे चलती थी वैसी ही हमेशा की तरह चली जा रही है। मैं अस्वस्थ हूँ, १० दिन से इस कमरे में क़ैद हूँ इसका कोई असर वहाँ कहीं भी नहीं है। मेरे मरने के बाद भी दुनिया ऐसी ही चलती रहेगी इसमें कोई सन्देह अब नहीं था। न मालूम क्यों यह विचार अच्छा नहीं लग रहा था। कहीं जैसे इस विचार से मेरी भावुकता को बहुत जबर्दस्त ठेस लगती थी।

सामने का वह दूकानदार उसी प्रकार अपनी दूकान के पल्लों को फैलाकर बैठा है। वह आज का ताजा 'भारत' पढ़ रहा है, किन्तु उसकी आँख हर आने-जानेवाले पर लगी है। हरएक को वह अपनी दृष्टि की कसौटी पर कूतता है, मजाल क्या कि कोई सड़क पर चलनेवाला खाली चला जाय। इस दूकानदार से मेरी अच्छी दोस्ती है, याने जब कोई ग्राहक नहीं होता था, और मैं कहीं जाना नहीं चाहता था तो बीमारी के दिनों के पहले अक्सर उसकी दूकान के सामने पड़ी हुई लोहे की कुर्सियों में से एक पर बैठ जाता था, और लगता था इधर-उधर की हाँकने। दोनों का जी बहलता था, किन्तु न मालूम क्या बात है जब से मैं बीमार पड़ा था, तब से जब भी मेरी दृष्टि इस मित्र दूकानदार तथा आसपास के दूकानदारों पर पड़ती तो मुझे ऐसा प्रतीत होता जैसे दुनिया के बाजार में ये दूकानदार मकड़ियों की तरह हैं और

दूकान रूपी जाले तानकर शिकार की तलाश में बैठे हैं। ऐसा केवल मैं मानसिक रूप से नहीं देखता था, बल्कि मैं प्रत्यक्ष रूप से इन दूकानदारों को सचमुच इतनी मकड़ियों की तरह देखता था। सामने के दूकानदार की गोल मखमली (या खुदा जाने काहे की) टोपी मुझे मकड़ी के शरीर के चमकते हुए उस हिस्से की तरह मालूम होती थी जहाँ उसकी सब टाँगें आकर मिल गई हैं। जब दूकानदार किसी ग्राहक को सामने पाता, और उसके हाथ जल्दी से जल्दी इधर से उधर माल दिखाने में व्यस्त हो जाते, उस समय मुझे यह मालूम होता जैसे ये हाथ नहीं बल्कि मकड़ी की टाँगें हैं जो ग्राहक को समेट रहे हैं, उसी तरह जल्दी-जल्दी चलते हुए, उसी प्रकार निर्मम, उसी प्रकार बेचूक। ग्राहक तो हमें सचमुच मक्खी की तरह मालूम होते थे। उसी तरह उड़कर आया हुआ, और उसी तरह दूकानदार के हाथ की हरएक मट-कन के साथ वह बेचारा और भी भयंकर रूप से फँसता हुआ। मकड़ी ज्योंही देख लेती है कि उसके जाले में कोई मक्खी फँसी है, त्योंही वह उस तरफ़ दौड़कर जल्दी-जल्दी और दो-चार जाले बुन देती है जिससे मक्खी भाग न पावे। उसी प्रकार ये दूकानदार हमें मालूम देते थे। किन्तु मैं देखता था कि ये ग्राहक मक्खियों से कुछ विभिन्न क़िस्म के होते हैं, ये तो फँसने के लिये ही चलते हैं। मकड़ी जैसे बराबर फँसी हुई मक्खी की आँख से आँख मिलाये रहती है, उसी प्रकार दूकानदार माल दिखाता, भाव बताता, बनियाइनों की तह खोलता, सब कुछ करता, किंतु उसकी आँख बराबर ग्राहक की आँख से मिली रहती। मानो वह उसे सम्मोहित कर लेगा।

बीमारी से मुझे जैसे दिव्य-दृष्टि प्राप्त हो गई थी। मेरा जैसा तीसरा नेत्र खुल चुका था। सभी बातों को मैं एक नये दृष्टिकोण से देखने लगा था। मैं बीमार था, इतने दिनों से बाहर नहीं आ

पाया था, इसी कमरे के चौखट में क़ैद था, इसकी मुझे कुछ पर्वाह नहीं थी। अच्छा होकर उठने के लिये मैं व्याकुल भी नहीं था। कभी-कभी ऐसी इच्छा होती थी कि मानो ऐसा ही जीवन भर रहूँ तो क्या हर्ज है। बस मुझे तकलीफ़ थी तो एक बात से थी। वह यह कि रोज एलोपैथिक दवा के कितने ही कड़वे घूँट पीने पड़ते थे। बस इससे घबड़ाकर मैं चाहता था कि अब अच्छा हो जाऊँ तो कोई हर्ज नहीं। मैं मन ही मन वैज्ञानिकों तथा डाक्टरों को सैकड़ों गालियाँ देता। विज्ञान की क्या खाक उन्नति हुई है ! आखिर इन दवाओं का यदि स्वाद अच्छा होता तो क्या इन डाक्टरों का कुछ बिगड़ जाता क्या ? यदि विज्ञान ने इन दवाओं के गुणों को क़ायम रखते हुए स्वाद को बदल न पाया, तो फिर उसकी बड़ाई क्या रही ? यह क्यों सार्वजनिक रूप से मान लिया गया कि दवा में गुण यदि होंगे तो उसका स्वाद खराब होगा ही। यह क्या गुलाम मनोवृत्ति है। आखिर चिकित्साशास्त्र का यही मतलब है न कि कष्ट कम हो. फिर यह निस्वाद दवा पीने के कष्ट को दूर करने की चेष्टा क्यों नहीं की जाती। मैं दवा पीता और ये ही सब ख्याल मेरे दिमाग़ में हिलोरे लेने लगते। जीवन में कड़वे घूँट और यहाँ भी कड़वे घूँट। कैसी विडम्बना है।

दवा पीने के विरुद्ध मैं विद्रोह कर बैठता। अपनी इस प्रवृत्ति का समर्थन तो मैं कर लेता, किन्तु इन तीमारदारों के मारे मेरी कोई बात चलने न पाती। मैं यहाँ थोड़ा-सा अपना विवरण दे दूँ। मैं एक आवारा हूँ, किन्तु ऐसा आवारा जिसे लोग दुतकारते नहीं, प्यार करते हैं, हृदय से लगाते हैं अर्थात् मैं एक क्रान्तिकारी हूँ। एक मित्र-परिवार में रहता था। मित्र-परिवार के सब लोग बारी बारी से आते और देख जाते मुझे क्या चाहिये, क्या नहीं चाहिये, दवा मैंने पी है कि नहीं। उनमें से कोई ठलुआ नहीं था कि

दिन भर बैठा रहता। कामकाजी आदमी थे, जब छुट्टी होती थी तो आकर बैठते। फिर रोग ही कौन ऐसा भारी था। राजनैतिक मित्र आकर जब-तब देख जाते, किन्तु मैं उनका आना विशेष पसन्द न करता था, क्योंकि वे अपने साथ उस आबोहवा को ले आते थे जो मुझे इस समय नापसन्द था—विभिन्न वामपक्षी दलों का झगड़ा, इस यूनियन में उनको नीचा दिखाया, उनका पत्ता काट दिया। रोगशय्या पर पड़े-पड़े मुझे कभी-कभी ऐसा मालूम देता कि व्यर्थ ही मैंने इनके झगड़े में पड़कर जीवन गँवाया, भारतवर्ष में वामपक्ष की दाल अभी नहीं गलने की। जिनके साथ मैं रहता था वे जानते थे कि मैं आजकल अकेला रहना चाहता हूँ, इसलिये वे एक न एक बहाना बताकर उन्हें लौटा देते। कभी कह देते—सो रहे हैं—कभी कह देते—औरतें वहाँ हैं। मैं मित्र से कहता—तुम ऐसा झूठ क्यों बोलते हो जी? वह कह देता—जाने भी दीजिये, यह झूठ नहीं है, मैं जानता हूँ आप इन लोगों से बातचीत करें तो आपका टेम्परेचर बढ़ जाय—फिर कुछ सोचकर इतना और जोड़ देता—मैं तो जब भी इनसे बात करता हूँ मेरा टेम्परेचर बढ़ जाता है।

इसके आगे कुछ कहने की जरूरत नहीं रहती थी। अब कौन इनसे बहस करे कि झूठ क्या है, सच क्या है, और फिर टेम्परेचर बढ़ने की बहस तो बड़ी ही लम्बी है। हमारे मित्र सब तरह की राजनीति से अप्रसन्न थे, किन्तु मुझे प्यार करते थे इसमें मुझे कोई सन्देह नहीं था। इसलिये चुप रह गया।

मेरी तीमारदारी का एक बड़ा हिस्सा हमारे मित्र की चचेरी बहिन कुमारी तारा पर पड़ता था। हम लोग एक दूसरे को गत दो वर्षों से जानते थे। तारा से उसकी सौतेली अम्मा से नहीं पटती थी, इसलिये वह यहाँ रहकर पढ़ती थी। उम्र उसकी बीस के क़रीब थी। बी० ए० की परीक्षा देने ही वाली थी।

दिन-रात में वह कई दफ़ आती। खासकर साबूदाना, नारंगी का रस आदि लेकर आना उसी के सिपुर्द था। मैं दवा पीता हूँ कि नहीं इस पर वह विशेष ध्यान रखती। मैंने हँसकर कई बार उसे उलाहने के रूप में कह दिया—तारा, तुम जब भी आती हो एक अप्रीतिकर प्रयोजन को लेकर आती हो, कहीं साबूदाना तो कहीं कुनैन। यदि यही रफ़्तार रही तो थोड़े ही दिन में मैं तुमसे घृणा करने लगूँगा।

वह मेरी बात को सुन लेती, किन्तु कुछ न कहती। जब से मैं बीमार पड़ा हूँ तब से वह कुछ गंभीर रहती है। चाँदी की घण्टी बजने की तरह उसकी हँसी बहुत दिनों से सुनने को नहीं मिली थी। हाँ मैं बता दूँ, मैं उसे सुनने के लिये व्याकुल भी नहीं था। और आनेवालों की तरह वह पहले ही पूछती—कैसा मालूम हो रहा है?

मैं कहता—हाथ कंगन को आरसी क्या। देख लीजिये। यदि मैं कहूँ कि अच्छा हूँ तो आप मुझे आम का अचार लाकर थोड़े ही खिलाएँगी।

वह जैसे हँसने को होती, किन्तु न हँसकर कहती—ओह, आम का अचार नहीं तो आपको गिलौरियाँ खिलाई जाएँगी।

वह हमारे बिछौने के सिरहाने आकर खड़ी हो जाती, और धीरे से कोमल हाथों से मानो मैं कोई मोम का पुतला हूँ, गल जाऊँगा बहुत ही सावधानी से मेरे माथे पर हाथ रखती। मैं इसका अभ्यस्त हो गया था। और वह हमेशा वही एक ही बात कहती, और उसके माथे पर बल आ जाता—अभी बुखार है।

मैं कहता—तो इसमें हर्ज ही क्या है? रहने दो।

वह कहती—आपको तो हर्ज नहीं है, किन्तु औरों को तो हो सकता है। वह मोढ़े पर बैठ जाती, और दूर आकाश की

ओर देखने लगती। फिर मेज़ पर रक्खी हुई घड़ी की ओर देखकर कहती—अभी दवा पीने को पन्द्रह मिनट बाक़ी है, तब तक मैं बैठ जाती हूँ, दवा पिलाकर ही जाऊँगी।

इसी प्रकार और भी दस दिन हो गये। मेरा बुखार अब छूट रहा था, याने कभी-कभी आता था। घूमने-फिरने की अब भी मनाही थी। उस दिन ज्वर उतरा हुआ था। तारा आई। वह घड़ी देखकर आई थी। आते ही शीशी की ओर लपकी, और दवा काँच के गिलास में ढालती हुई बोली—लीजिये...

मैंने मुँह बिचका लिया और कहा—तारा, अब तुम बिलकुल nuisance हो चुकी हो, मैं सच कहता हूँ अब तुमसे उसी प्रकार घृणा करता हूँ जिस प्रकार इस दवा की बोतल से करता हूँ—किन्तु मैंने हाथ बढ़ाकर दवा पी ली।

काँच के गिलास को मेरे हाथ से लेकर तथा मेरे हाथ में एक पान देती हुई बड़ी तिक्तता के साथ वह बोली—ख़ैर आप मुझे कुछ करते तो हैं, सुनकर ख़ुश हुई, मैं तो आपको एक पत्थर समझती थी...

पत्थर कहलाना कोई भी व्यक्ति पसन्द नहीं करता, मैंने फ़ौरन प्रतिवाद करते हुए कहा—यह तुम कैसी बात कहती हो तारा, मैंने कभी किसी से दुर्व्यवहार किया है ऐसा तुम कह सकती हो ?

दवा तो मैंने पी थी, किन्तु उसने अपने मुँह को दवा पीने के बाद की तरह कड़वा बनाकर कहा—जी हाँ, आप दुर्व्यवहार तो किसी से नहीं करते, किन्तु समस्या तो यह है आप किसी से सद्व्यवहार भी करते हैं ?

मैं अवाक् रह गया, किन्तु मेरे कुछ कहने के पहले वह फिर बोल उठी—कौशिकजी, आपने कभी किसी से प्रेम किया है ?

यह कहकर वह जैसे अपने प्रश्न के दु:साहस से सहम गई और शीशी मेज़ पर रखकर मोढ़े पर धम से बैठ गई। आश्चर्य पर आश्चर्य, मेरे तो होश ग़ायब थे। मुझसे उसका जो सम्बन्ध था, उसमें ऐसा प्रश्न पूछने का कोई सवाल ही नहीं उठता था। मैं क्या उत्तर देता। मैं उसके चेहरे की तरफ़ देखता रहा, वहाँ कई रंग आ-जा चुके थे।

मैंने कहा—प्रेम क्यों नहीं किया, माता से पिता से, सैकड़ों आदमी से करता हूँ, क्या तुमसे तथा तुम्हारे भाइयों से नहीं करता?

एक मुहूर्त के लिये जैसे उसकी आँखें चमक उठीं, किन्तु फ़ौरन ही वह चमक चली गई, और वह बोली—कौशिकजी, मैं उस प्रेम को नहीं पूछती। आपने किसी से प्रणय किया है? फिर ठहरकर बोली—क्या आप मुझसे प्रेम करते हैं या प्रणय?

मेरे माथे पर पसीना आ गया। मानो किसीने मुझ पर सैकड़ों घड़े पानी के डाल दिये हों। मैं उठकर खड़ा हो गया। मैंने कहा—तारा, यह शक मुझ पर आपका क्यों हुआ? मैंने तुम्हें सिवा बहिन के और कुछ समझा, क्या तुम ऐसा कह सकती हो?

इस बात से उसके बदन में जैसे आग लग गई। वह तीव्र विद्रूप के स्वर में बोली—जी हाँ, आप भी मेरे भाई हैं, जैसे भाइयों की मुझे कोई कमी है। माफ़ कीजियेगा कौशिकजी मेरे सब मिलाकर दर्जन से ऊपर भाई हैं, मुझे भाइयों की कोई ज़रूरत नहीं है......आगे वह कुछ कह न सकी, और रूमाल आँख पर डालकर सिसकने लगी।

मेरा तो ऐसा हाल हुआ कि काटो तो लहू नहीं। ऐसी विपत्ति में मैं कभी न पड़ा था। मैं फिर से खाट पर बैठ गया, और लगा इधर-उधर झाँकने कि कोई सुन या देख तो नहीं रहा है। फिर इसका यह रोना कैसे बन्द करता! यह एक बड़ी समस्या

थी। मैंने आज पहली बार ध्यान से उसकी ओर देखा। सुन्दर, भरा हुआ चेहरा, बाल इस समय बँधे हुए नहीं, देखने में अच्छी किन्तु मैंने तो उसे बहिन के अलावा किसी और दृष्टि से कभी देखा नहीं था। आज भी मैंने जब उसे फिर से देखा तो मैंने अपने को उसके प्रेमपात्र के रूप में देखने से असमर्थ पाया।

थोड़ी देर में वह सम्हली और चुपचाप मुँह से आँसू पोंछ-कर चली गई। मुझे फिर भी कुछ न सूझा और मैं जड़वत् खाट पर बैठा रह गया।

बुखार बिलकुल अच्छा हो गया। अब मैं बाहर आने-जाने लगा। वही पुराना ढर्रा जारी हो गया। तारा आती थी, किन्तु कुछ अधिक बोलती नहीं थी। काम की बात करके चल देती थी, किन्तु जब भी वह आती मुझे बड़े ध्यान से देखती, मानो मेरे हृदय को पढ़ डालना चाहती हो। मैं आँखें नीची कर लेता।

एक दिन वह सन्ध्या समय आई। ऐसे समय वह बीमारी के युग में तो आती थी, किन्तु तब से नहीं आई। मैं मेज़ पर काम कर रहा था। शाम को आए हुए कुछ जरूरी खतों का जवाब दे रहा था। मैंने सिर उठाकर उसकी तरफ़ देखा, किन्तु उसने मेरी ओर देखा नहीं और लगी मेरी अलमारी की किताबों को सजाने। ऐसा वह कभी-कभी करती थी, किन्तु इस समय कौन जल्दी थी। किताबें ठीक करने के बाद उसने मेज़ पर दृष्टि दौड़ाई और मेरे काम में बिना हस्तक्षेप किये ही मेज़ की चीज़ों को सँभालने लगी। मैंने इस पर भी कुछ न कहा। वह अभी अभी नहाकर आई थी। उसके बदन से किसी मीठे साबुन की बू हमारे कमरे में हिलोरें ले रही थीं। मेरी क़लम रुक गई। मैंने ऐसा बहाना किया मानो आई हुई चिट्ठी को पढ़ रहा हूँ। यदि मैं स्वयं आपे में होता तो देखता कि उसके हाथ कुछ काँप रहे थे। एकाएक उसने भर्राई हुई आवाज़ में कहा—कौशिकजी!

किन्तु इसके पहले कि मैं कुछ उत्तर देता, उसने मेरे हाथ में एक काग़ज़ दिया और आँधी की तरह कमरे से निकल गई।

मैंने जब उस काग़ज़ को काँपते हुए हाथों से खोला तो देखा कि वह एक चिट्ठी थी। उस चिट्ठी की नक़ल यह है :—

प्रिय कौशिकजी,

आज मैं यह तय करके इस पत्र को लिखने बैठी हूँ कि अपनी सब बातें साफ़-साफ़ लिख दूँ। मेरा जीवन जैसा रहा है, आप जानते हैं। माता जी कब मर गईं पता नहीं, जब से देख रही हूँ तब से सौतेली माँ को देख रही हूँ। उस राक्षसी ने एक दिन भी मुझसे प्रेम नहीं किया। पिताजी मुझको प्यार करते थे, किन्तु वे उस राक्षसी के भय से कभी उस प्रेम को व्यक्त नहीं करते थे। जब सौतेली माँ कहीं बाहर होती थी, तब वह बुलाकर मेरी पीठ पर थपकियाँ देते और प्यार जतलाते। जब मैं बच्ची थी तब मुझे पिता के इस प्यार में कुछ मजा आता था, किन्तु जब से मैं सयानी हो चली तब से पिता की इस कायरता पर मुझे क्रोध ही आता और मैं सौतेली माँ की गैरहाज़िरी में पिता से मिलना और प्यार लेना पसन्द न करती थी। फिर तो सौतेला भाई पैदा हो गया, तब से पिताजी को मेरी ज़रूरत नहीं रह गई। यह पिताजी की बहुत ही सुन्दर सूझ थी कि उन्होंने पढ़ाने के बहाने मुझे चाची और चचेरे भाइयों के हवाले कर दिया। चाची मुझे प्यार करती थी, क्योंकि वह मेरी स्वर्गगता माता की सहपाठिनी थी, चचेरे भाई भी मुझे चाहते हैं। बेचारे कभी मुझे लिये बिना सिनेमा नहीं गये। आपकी तो उम्र जेल में कटी। आप क्या जानें, भारतीय नारियों के लिये यह कितनी बड़ी मर्यादा है। साधारण तौर पर तो भाई लोग सिनेमा देखते हैं, चाट खाते हैं, और बहिनों के लिये कुछ नहीं

होता। इतने में आप आ गये। न मालूम कहाँ से टपक पड़े। चाची आपको मानती थी, भाई आपको ईश्वर जाने क्या समझते थे। शायद ईश्वर समझते हों। घर भर को मानो आपने चेला बना लिया। मैं भी आपके सम्मोहन से अछूती न रह सकी। न मालूम आप में क्या आकर्षण था, मैं आपकी ओर उत्तरोत्तर खिचती ही गई। आपकी बातों में कुछ ऐसा नयापन होता है कि मन अनायास ही उस ओर खिंच जाता है। मैं अपने को सँभाल न सकी। मैं आपके प्रेम में पड़ गई। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि जिस नारी को आप अपनी जीवन-संगिनी बनायेंगे वह धन्य हो जायगी। मैं झूठ नहीं लिखती, किन्तु जिस समय आप आँख उठाकर मुझसे बात करते थे उस समय मुझे ज्ञात होता था कि मानो मैं ससागरा धरित्री की एकच्छत्रा अधीश्वरी हो गई हूँ। आपके मुँह से मैंने क्या नहीं सुना? काव्य, साहित्य, विज्ञान, दर्शन, किन्तु आप जैसे उनमें जान ला देते हैं। विषय जैसे मूर्त होकर आँखों के सामने आ जाते हैं। दूरतम नक्षत्र भी समीप ज्ञात होता है। मेरा प्रेम-भूखा हृदय यदि आपके ऊपर मुग्ध हो गया तो इसमें आश्चर्य ही क्या? फिर आपके रोग से आपके साथ घनिष्ठता का मौक़ा मिला। मैं जैसे आपके मन्दिर के अंतरंग वृत्त में आ गई। मैं जानती थी कि आपके जीवन में नारी का कोई स्थान नहीं है। आप स्त्री जाति के शायद सब से प्रकांड तथा दुर्द्धर्ष मित्रों में से हैं। पग-पग पर हरेक क्षेत्र में आप स्त्री जाति के समान अधिकारों के लिये लड़ते रहते हैं। चचेरे भाइयों के साथ आपका जो तर्क इस संबंध में समय-समय पर होते थे उसे सुनकर कई बार मेरे नेत्रों में आँसू आ जाते थे। मैंने औरों की बातें सुनी हैं, किन्तु कहीं न कहीं जाकर मैं देखती थी ये ही लोग कुछ पीछे हटते थे, और कहते थे कि धीरे-धीरे चलना चाहिये। फिर भी एक तरफ़ तो आप ऐसे

हैं, दूसरी तरफ़ आपसे बढ़कर स्त्री जाति का कोई अपमान करनेवाला नहीं है। आप जब किसी भी स्त्री को जीवन-संगिनी बनाना नहीं चाहते, और सब स्त्रियों को बहनें समझने पर उतारू हैं, तो आपसे बढ़कर स्त्री जाति का द्वेष्टा कौन हो सकता है। इसका अर्थ यह है कि आप स्त्री जाति को वहीं पर सबसे क्रूर आघात कर रहे हैं, जहाँ उसका मर्मस्थल है, और जहाँ आघात उसके लिये सबसे अधिक असहनीय है। जो कुछ भी हो मैंने अपनी परिस्थिति स्पष्ट कर दी। मैं आपकी ओर खिंचती जरूर हूँ, किन्तु सच बात तो यह है कि मैं आपको समझ न सकी। मुझे ऐसा कई बार ज्ञात हुआ कि आप मुझे बड़े जोर से खींच रहे हैं, फिर जब पास गई तो आपने मुँह फेर लिया। इस रहस्यमय व्यवहार के तले क्या है और आप क्या हैं मैं बिलकुल समझ न सकी। मेरे अन्दर जो ज्वालामुखी अब तक सोई हुई थी, वह भड़क चुकी है, वह अब दिशा-ज्ञान-शून्य हो गई है। अपने ऊपर मेरा संयम जाता रहा है, न मालूम मैं अब क्या कर डालूँ। यदि आपने मेरी पूजा स्वीकार न की तो पता नहीं मैं क्या हो जाऊँ। और एक बात कहूँ, यह ज्वालामुखी आप ही ने उभाड़ी है। मैं अच्छी खासी थी, पढ़ाई समाप्त होने पर चाची तथा पिताजी जिसके गले मढ़ देते, चाहे वह बन्दर ही होता, मैं उसी के साथ सुखी रहती, किन्तु आप ही ने मुझे विद्रोह करना सिखलाया। और अब जब मेरे हृदय समुद्र में उफान आया तो आप झटपट भाग रहे हैं। यही आपकी क्रान्ति है? जाने दीजिये, सच बात यह है, मैं आपके बगैर जी नहीं सकती हूँ। अर्थात् अब मर सकती हूँ। किन्तु औरतों के लिये मरना कई तरीक़े से होता है। मैं अब अधिक न लिखूँगी।

—आपकी तारा

पुनश्च—उत्तर के लिये मैं स्वयं किसी समय आऊँगी।

पत्र पढ़कर मैं सन्न-सा रह गया। पत्र में जो प्रस्ताव किया गया था, उससे मेरे सारे शरीर में रोमांच तो जरूर हो आया, किन्तु मैंने इसको स्वीकार करने में अपने को सम्पूर्ण असमर्थ पाया। अपने ऊपर कुछ ग्लानि हुई। पत्र को पढ़कर मैंने अपने को एक नये रूप में पाया। यह रूप मोहक नहीं था। सबसे बड़ा डर मुझे जो लगा कि तारा कहीं आवेश में कुछ कर न डाले। एक ख़याल यह भी आया कि डेराडंडा उठाकर यहाँ से आज ही चल दूँ, किन्तु एक तो काम मेरा इतना फैला हुआ था कि एकाएक ऐसा करना हास्यास्पद जान पड़ा। इसके अतिरिक्त पलायन का विचार यों ही अप्रीतिकर था। मैंने यह तय किया जो कुछ भी हो खड़ा रहकर उसका मुकाबला करूँगा। मैंने खूब अपने को जाँचा, इस सारे मामले में मेरी कोई जिम्मेदारी नहीं थी। अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि मैं एक दुर्भाग्य का शिकार हो रहा था। ऐसा सोच लेने पर मुझे बड़ी शान्ति मिली, किन्तु वह थोड़ी देर के लिये। फिर से ज्यों ही पत्र को उठाकर पढ़ा त्यों ही अजीब-अजीब विचार मेरे दिमाग़ में चक्कर काटने लगे। यदि मैं उसका प्रस्ताव स्वीकार करूँ तो ? किन्तु यह असंभव था। असंभव इसलिये नहीं कि ऐसा करता तो कोई अनहोनी बात थी। यह भी बात ग़लत थी कि मेरे जीवन में किसी स्त्री का स्थान नहीं हो सकता था। किन्तु अवश्य ही तारा वह स्त्री नहीं थी। ऐसे ही विचारों में मैं डूब गया, किसी अन्तिम निश्चय पर न पहुँच सका।

दो-तीन दिन तक बिना किसी घटना के बीत गया। न वह उत्तर लेने आई, न मैंने कुछ कहा। भेंट रोज कई बार होती थी, किन्तु इस सम्बन्ध में कोई बात नहीं छिड़ती थी। मैं भी कुछ-कुछ निश्चिन्त हो चला था।

रात को कुछ आज जल्दी ही सो गया था। कई दिन से

अधिक रात तक जग रहा था। पढ़ने-लिखने में देरी हो जाती थी, इसलिये आज जल्दी सो गया। रात के कितने बजे होंगे पता नहीं। कैसे मेरी नींद खुली पता नहीं। आँख खुली तो देखा पैर के पास तारा बैठी हुई है। मैं एकदम फड़फड़ाकर उठ बैठा। उसने मेरे घबड़ाये हुए चेहरे को देखकर कहा—डरिये मत, मैं कोई भूत नहीं हूँ।

यदि मैं घबड़ाया हुआ नहीं था, तो इस बात से घबड़ा ज़रूर गया। मैंने कहा—इतनी रात को --फिर घड़ी की ओर देखकर कहा—दो बज रहे हैं।

उसने शान्त कंठ से कहा—दो बजे हों चाहे तीन, मैं आज आपसे अन्तिम बार मिलने आई हूँ। फिर कोई देख लेगा तो यही कहेगा न कि आपसे मेरा गुप्त प्रणय था। यदि मैं सचमुच इस बदनामी की हक़दार हो सकती हूँ तो आप ही सोचिये कि क्या आप गुप्त रूप से भी मुझसे प्रेम नहीं कर सकते? यक़ीन जानिये किसी को कानों कान खबर न होगी। आप झेपते क्यों हैं? देखिये मेरी ओर आँख खोलकर देखिये, क्या मैं किसी औरत से कम हूँ?

सचमुच वह आज परम सुन्दरी मालूम हो रही थी। इस समय वह केवल साड़ी पहने हुए थी। उसने एकाएक मेरे पाँव पकड़ लिये, और अजीब भर्राई हुई आवाज़ में बोली—बोलिये, कुछ कहते क्यों नहीं?

मैंने पैर छुड़ाने का प्रयत्न किया, इसी गड़बड़ी में उसकी छाती पर का कपड़ा सरक गया, कमर के ऊपर तक का उसका कपड़ा सरक चुका था, किन्तु उसने जरा भी उसे सँभालने की चेष्टा न करते हुए उसी प्रकार पैर पकड़े हुए कहा। मैं जैसे विह्वल हो गया। मैंने अपने से कहा, चूल्हे में जाय सारी बातें, क्यों न मैं इस प्रेममयी को अपनाऊँ। मैंने जोर से उसे अपनी

तरफ़ खींचा। उसका सिर अब मेरी गोद में था। मेरा होठ भी अब उसके होठ के तरफ़ जा ही रहे थे। ओह इन होठों में कितने युग की पिपासा पूञ्जीभूत थी, किन्तु एकाएक मुझे ऐसा मालूम हुआ कोई आवाज़ सड़क पर हुई, इतने ही से मैं सँभल गया, और उसके बालों में हाथ डालते हुए मैंने कहा—छिः तारा, तुम कैसी हो रही ? उठो, जाकर सो जाओ ?—उसने कुछ कहा नहीं, वह ऐसी शिथिल होकर पड़ गई कि मानो उसमें कोई सुधबुध न रह गई हो। मैं धीरे-धीरे उसके बालों को सहलाता रहा। मैंने कहा—देखो तारा, तुमने हमारे सम्बन्ध में जो ख्याल पैदा किया है वह बिलकुल ग़लत है। ज़रा आँख खोलकर देखो, मेरी तरह पुरुष हर गली में मौजूद है।—मैंने धीरे से उसकी अनावृत छाती को उसकी साड़ी से ढक दिया। किंतु मेरी वक्तृता का विशेष कोई असर होते जान न पड़ा। उसने मेरी एक भी बात का उत्तर नहीं दिया, केवल आँख मूँदकर पड़ी रही। किंतु जब-जब मैंने यह चेष्टा की कि उसको बिस्तरे से उठाकर मकान के अन्दर भेज दूँ, तब-तब उसने प्रतिवाद किया और मुझसे और ज़ोर से चिपट गई। अब मुझे इसका भय नहीं था कि इस अवस्था में कोई हम लोगों को देख लेगा तो क्या होगा। यह चिन्ता न मालूम क्यों अब जाती रही थी। अब मुझे चिंता थी तो इस बात की कि इस लड़की का क्या होगा। मैं अब उसी की बात सोच रहा था, अपनी नहीं। मुझे बड़ी दया आ रही थी। अकस्मात् युवती नारी की देह के स्पर्श से मैं पहले क्षण जो तिलमिला गया था, वह थोड़ी ही देर में अतीत हो गया, और मैं बिलकुल स्वाभाविक अवस्था में हो गया था। हाँ, उसकी भविष्य चिन्ता मुझे सता रही थी। बारबार वह वाक्य मेरे कानों में गूँज रहा था "औरतों के लिये मरना कई तरीक़े से होता है।" क्या भीषण वाक्य था, और ईश्वर जाने इसमें क्या-क्या अर्थ थे। सोचता और उसके

मुँह की तरफ़ देखता, और सन्न-सा रह जाता। कदाचित् मैं इस तरुणी के हृदय को पढ़ सकता।

टन् से घंटाघर की घड़ी में एक-एक कर तीन बज गये। वह जैसे मूर्छा से उठी। पहले आँख खुली, एक क्षण के लिये जैसे उसकी आँख मेरे ऊपर ठहरी। ओह, उस आँख में चाबुक की मार की तरह कोई चीज़ थी जिसने मुझे तिलमिला दिया। वह अब घंटे भर पहले की वह तारा नहीं थी। कम से कम मेरे लिये नहीं रह गई थी। उसकी चिट्ठी की वह बात याद आई, "आप स्त्री जाति का सबसे अधिक क्रूर आघात कर रहे हैं, जहाँ उसका मर्मस्थल है, और जहाँ आघात उसके लिये सबसे असहनीय है।" उस दृष्टि के सामने मैंने अपने को बहुत छोटा अनुभव किया, मानो वह दृष्टि मुझे कह रही थी, "तुम हो किस भरोसे में। तुमको जब तक बड़ा किया था तभी तक तुम बड़े थे। अब तुम कुछ भी नहीं हो। वास्तव में तुम कुछ भी नहीं हो।" वह भावावेश में उठी, और साड़ी सँभालती हुई मेरे लिये मूर्तिमती भर्त्सना की तरह चली गई। न तो उसने मुझसे कुछ कहा, न मेरी ओर फिर देखा।

जब वह चली गई, तो मुझे ऐसा जँचा कि कहीं मैं भ्रम में तो नहीं था, कहीं यह सारा का सारा स्वप्न तो नहीं था। किन्तु नहीं यह स्वप्न नहीं था। मानो इसी बात का प्रमाण देने के लिये उसके दो-तीन लम्बे-लम्बे बाल मेरे बिछौने पर पड़े थे। उस रात को फिर मैं सो न सका।

× × ×

इसके बाद दो महीने की बात है। अभी अच्छी तरह सवेरा नहीं हुआ था। मैं अभी तक सो ही रहा कि तारा के सब चचेरे भाई एक साथ मेरे कमरे में घुस गये, और लगे जोर-जोर से पुकारने—कौशिकजी, कौशिकजी! तारा कहाँ है?

मैं फड़फड़ाकर उठ खड़ा हुआ, मैंने भी यंत्रचालितवत् उसी प्रश्न की पुनरावृत्ति की—तारा कहाँ है ?—फिर सँभलकर बोला—कहाँ है ? घर में नहीं है ?

जो सबसे बड़ा भाई था और जिससे मुझसे कोई घनिष्ठता नहीं थी बोला—आज सबेरे मैं उठा तो देखा उसका बिस्तरा खाली है। घर में कहीं ढूँढ़ने पर नहीं मिली तो सोचा हो न हो आप के यहाँ होगी—इतना कहकर उसने क्रूर-दृष्टि से मेरी ओर देखा, फिर मेरे कमरे के चारों तरफ़ देखा, मानो वह यहीं कहीं छिपी होगी।

बड़े भाई के साथ-साथ सभी भाइयों ने मेरी ओर देखा, साथ ही मेरे कमरे को देखा, किन्तु साथ ही उनमें से एक ने कहा—भला यहाँ क्यों आती, इतने सबेरे उसका यहाँ आने का क्या काम है ?

वे लोग वहाँ से चले गये। फिर तारा की खोज शुरू हुई। मैं भी ढूँढ़ने गया। उसके बाप को तथा अन्य कई जगहों पर तार दिया गया, किन्तु शाम तक सब जगह से सूखा जवाब मिला। लोग बड़े चक्कर में थे कि वह कहाँ गई। मुझे तो यह डर मालूम हो रहा था कि कहीं उसने नदी में कूदकर आत्महत्या न कर ली हो। कुछ भी हो, मैं अपने ऊपर इसका बोझ उठाने के लिये तैयार नहीं था। तारा के चचेरे भाइयों को तो कुछ भी मालूम नहीं था, वे तो बिलकुल अँधेरे में टटोल रहे थे। हाँ, बड़े भाई जरूर कुछ मुझ पर शक करते थे। इसके दो ही दिन बाद मैं राजनैतिक कार्य वश बाहर जानेवाला था। बड़े भाई को यह बात मालूम थी। जब शाम को घर के लोग इकट्ठे हुए और लगे तरह-तरह की अटकलपच्चू बातें उड़ाने, उस समय मैं बिलकुल चुप रहा। मेरे दिमाग़ में तो एक ही बात थी कि उसने आत्महत्या कर डाली। मैं यह नहीं सोचता था कि उसने ऐसा प्रेम के वशी-

भूत होकर किया। मेरे लिये ऐसा सोचना असंभव था। मेरी मानसिक बनावट ऐसी थी कि मैं ऐसी कल्पना नहीं कर सकता था। इसीलिये दूसरी बात पर ही मेरा दिल जाता था। बातों के दौरान में बड़े भाई ने कहा— आप तो परसों फतेहपुर जा रहे हैं, ज़रा वहाँ खोजकर देखियेगा।

न मालूम क्यों मैंने आँखें नीची कर लीं। पहले आश्चर्य को सँभालकर मैंने फिर भी कहा—भला फतेहपुर में वह क्यों जाने लगी, आप लोगों के कोई रिश्तेदार वहाँ रहते हैं?

बड़े भाई ने जैसे थूक निगलकर कहा—नहीं, योंही कहा था, शायद कहीं पता चल जाय।

अब तक मैं अच्छी तरह सँभल चुका था, मैंने कहा—भला मैं जाऊँगा वहाँ राजनैतिक काम से, राजनैतिक कार्यकर्त्ताओं से मिलूँगा, उनसे तारा से क्या सम्बन्ध हो सकता है? वे तारा को क्या जानें? — छोटे भाइयों ने मेरा ही समर्थन किया, किन्तु दूसरे दिन की शाम तक मैं यह अनुभव करने लगा कि इस घर के सभी लोग हो न हो समझते हैं कि मुझसे तारा के भागने का कुछ संबन्ध है, और यह भी मुझे अनुभव हुआ कि कुछ भद्र तरीक़े से मेरी गतिविधि पर आँख रक्खी जा रही है। कितनी जल्दी लोग किसी व्यक्ति के संबन्ध में राय बदल देते हैं। मुझे ऐसा भी मालूम पड़ा कि मेरा फतेहपुर जाना भी इन लोगों के नज़दीक कम से कम बड़े भाई के नज़दीक सन्देह की वस्तु है। ऐसी हालत में मैं क्या कर सकता था?

मैं इस बात की प्रतीक्षा करता रहा कि आखिर यह हवा बदलेगी और सच बात खुलेगी ही। सभी लोग यह समझते थे कि वह कहीं भाग गई है। आत्महत्या की बात कोई नहीं सोचता था। मुझे भी आत्महत्या की कहानी अब जँचती नहीं थी। वह साथ में कुछ ऐसे सामान लेती गई थी जैसे प्रसाधन के सामान, जिनके

साथ आत्महत्या की बात बिलकुल नहीं खपती थी। पर कौन जाने इन औरतों की बातें? प्रसाधन से आत्महत्या का संबन्ध हो भी सकता है। पहले के ज़माने में वीर क्षत्राणियाँ नखशिख तक शृंगारकर चिता पर चढ़ने के लिये जाया करती थीं।

जो कुछ भी हो इस बात पर सोचने का अवसर न था। सामने अगस्त १६४२ था। कानाफूसी से मालूम हो चुका था कि अब की बार कांग्रेस कुछ और ही करने जा रही है। बिलकुल नई बात। मैं उसी की तैयारी में जुट पड़ा। पर तारा की बात मेरे मन में एक काँटे की तरह खटकती रही। वह मेरे मन में एक शहीद की मर्यादा प्राप्त कर चुकी थी, किन्तु वह लौट आती और फिर मुझसे जीवनसंगी होने का अनुरोध करती तो फिर शायद मैं उसे उसी प्रकार लौटा देता। अजीब है यह जीवन का कैलकुलस! अजीब है यह क्रान्तिकारी जीवन!

फिर भी मैं निश्चिन्त नहीं हो पाया। उधेड़बुन की तरंगों में हिलोरें लेता रहा। ऐसे समय एकाएक जैसे मेरी सब समस्याओं को एक ही बार में सुलझाती हुई आई मेरी गिरफ़्तारी। मेरी गिरफ़्तारी का यह पहला मौक़ा नहीं था। सरकार की मेहमानी मैं कई बार कर चुका था, पर अब की बार यह गिरफ़्तारी जिस रूप में आई, उससे मेरा हृदय बागबाग हो गया। छुट्टी मिली। सारी समस्याओं से छुट्टी। जिस कम्बख़्त पुलिसवाले ने मेरी गिरफ़्तारी की आज्ञा निकलवाई थी, काश वह जानता कि वह मेरे साथ कितना एहसान कर रहा है।

गिरफ़्तार होने पर ही सारी समस्या नहीं सुलझती, किंतु इसके साथ ही यह जो हुक्म भी आया कि न तो मैं बाहर से पत्र व्यवहार कर सकता हूँ, न किसी से मिल सकता हूँ, न अख़बार पा सकता हूँ इससे मुझे बड़ी तसल्ली हुई। मैं चाहता था जगत से

भागना। ऐसी जगह भागना जहाँ न केवल दुनिया को मेरी खबर न हो, बल्कि मुझे भी अपनी खबर न हो।

अब मैं जेल में था। ऐसी जगह आ गया था जहाँ तारा आ नहीं सकती थी, यहाँ तक कि उसकी खबर भी नहीं आ सकती थी। पर जेल में आने का एक दूसरा पहेलू भी था।

जब मैं लाया जाकर जेल की ऊँची-ऊँची दीवारों के अन्दर बन्द कर दिया गया, और पीछे से मेरे लिए जेल का फाटक वर्षों के लिए बन्द हो गया, तब मुझे यदि अफ़सोस था तो यही कि जिस क्रान्ति के लिये मैंने उपयाचिका तारा को प्रत्याख्यान किया था उसमें मैं भाग न ले सका। ज्यों-ज्यों वार्डरों के ज़रिये से अगस्त की एक आध खबरें छन-छनकर हमारे पास पहुँचतीं, त्यों-त्यों हमारा यह अफ़सोस बढ़ता। मैं सिटपिटाकर रह जाता, पर ज्योंही मुझे यह याद आ जाती कि तारा से मैं बच गया त्यों ही मेरा यह अफ़सोस कुछ कम हो जाता। मैं तारा से नहीं डरता था, बल्कि अपने से ही डरता था। मैं डर रहा था कि कहीं मैं तारा की बात मान न जाऊँ।

ऐसी ही उधेड़बुन में कभी बच जाने की ख़ुशी में और कभी क्रान्ति में भाग न ले पाने की ग़मी में जेल में मेरे दिन बीतते गये। कभी अफ़सोस होता तो कभी एक विपत्ति से बच जाने की खुशी होती। तो क्या तारा मेरे लिए एक विपत्ति थी? हाँ, मुझे अपने ऊपर भरोसा नहीं था।

उर्मिला (तारा) (२)

जब कौशिकजी ने मुझ अभिसारिका को उस रात लौटा दिया तो मैंने फौरन तय कर लिया कि अब इस जीवन में कुछ धरा नहीं है। आत्महत्या की बात मेरे मन में नहीं आई। यह कौशिकजी की ही शिक्षा का फल था कि मैं आत्महत्या की बात नहीं सोच सकती थी। पर आत्महत्या भले ही न करूँ इस मकान में रहना असंभव था। यह मकान मुझे काट रहा था। अब मेरे लिए इसमें रहना संभव नहीं था।

लोग प्रेम-विवाह की प्रशंसा करते हैं। मैं भी करती थी। कौशिकजी भी करते थे। पर मेरी प्रशंसा में और कौशिकजी की प्रशंसा में भेद था यह तो मुझे उसी रात पता लगा जब कौशिकजी ने मुझे उस रात सस्नेह लौटा दिया। उनके लिए प्रेम-विवाह की प्रशंसा एक क्रान्तिकारी सिद्धान्त का निस्पृह प्रतिपादन मात्र था। उनके जीवन से इस प्रतिपादन का कोई सम्बन्ध नहीं था। मैं उन्हें बुरा नहीं कहती। उनके आदर्शों को वे ही समझ सकते हैं। मैं केवल यही कह रही हूँ कि उन्होंने जीवन के जिस मार्ग को चुना था, वह अद्भुत था, उसको मैं समझ नहीं सकती।

रहा मेरे लिए, सो मेरे लिए प्रेममूलक विवाह का सिद्धान्त कोई शुष्क रक्तमांस-स्पर्शहीन सिद्धान्त नहीं था। यह सिद्धान्त मेरे लिए एक पथप्रदर्शक नियम था। इसके स्मरण मात्र से मेरी नसों में रक्त की धारा द्रुत और व्यग्र हो उठती थी। मेरे हृदय में उमंग की सृष्टि होती थी। यह सिद्धान्त मेरे लिए नवयुग की वह वाणी थी जो स्त्री जाति की मध्ययुगीन बेड़ियों को तोड़नेवाला

मन्त्र था। इस सिद्धान्त का सबसे सुन्दर प्रदिपादन मेरे चचेरे भाइयों के सामने कौशिकजी ने ही किया था। हाय, उस दिन वह प्रतिपादन मुझे कितना अच्छा लगा था, पर बाद को उसमें कितने कड़वे विषमय फल लगे। मैं तो एक पतंग की भाँति उसी दिये की तरफ़ दौड़ पड़ी, किंतु उससे मेरे पंख ही झुलस गये।

कौशिकजी ने मुझे निराश कर दिया था। अवश्य प्रेम-मूलक विवाह का अर्थ यही है कि जब दोनों तरफ़ से प्रेम हो तभी विवाह हो, किन्तु मेरे मामले की तरह बहुत से मामले ऐसे भी तो हो सकते हैं जिनमें प्रेम एक तरफ़ से हो, दूसरी तरफ़ से उदासीनता हो। क्या किसी विद्वान समाजशास्त्री ने इसका कुछ हल सोचा है? यह तो कह देना आसान है कि ऐसे क्षेत्र में विवाह होना जरूरी नहीं है, किन्तु मेरी तरह जिसकी हालत हो गई हो, उसको यह सुनकर कैसे तसल्ली हो सकती है? मैं तो कौशिकजी में तल्लीन हो चुकी थी। मैं उनके रूप-गुण पर मुग्ध थी। मैं उनके हृदय से अपने हृदय का, उनके शरीर से अपने शरीर के मिलन की भूखी थी। मेरा रोम-रोम उनके लिये तड़प रहा था। मुझे ऐसा ज्ञात होता था कि मेरी सृष्टि उनके लिये और उनकी सृष्टि मेरे लिये हुई थी। इस प्रकार से सोचने से शायद कौशिकजी के समाजवाद को बट्टा लगे। समाजवाद क्या है मैं नहीं समझती हूँ। कोई अच्छी चीज होगी इतना ही मैं जानती हूँ। जब कौशिकजी उसे पसन्द करते हैं, तो वह जरूर कोई अच्छी चीज होगी। कई बार कौशिकजी ने मुझे समाजवाद क्या है यह समझाने की चेष्टा की, पर कुछ देर तक तो मैं सुनती, किन्तु जहाँ वे उत्पादन के साधन, सामाजिक आर्थिक पद्धति, मात्रागत परिवर्तन आदि शब्द कहते, तहाँ वह विषय मेरी बुद्धि से बाहर हो जाता। मैं कौशिकजी को दोष नहीं देती। लोग तो यही कहते थे कि वे बहुत अच्छा समझते हैं। मैं

क्यों नहीं समझ पाती थी, इसमें दोष मेरा ही था। वे ज्योंही कुछ देर बोलते उनकी आवाज़ को सुनते-सुनते, उनके इतस्ततः विक्षिप्त पागलपन सूचक बालों को देखते-देखते मुझमें कुछ ऐसा हो जाता था कि मैं उनकी बात बिलकुल नहीं सुन पाती थी, बस उनका चेहरा ही देखती रह जाती थी। वे दुगने उत्साह से बोलते रहते, पर मुझे कुछ न सुनाई देता। उनकी आवाज़ केवल उनके मुख को देखने की क्रिया में एक पृष्ठभौमिक संगीत का काम देती थी।

समाजवाद पर उनके इन जोशीले व्याख्यानों का मैं स्वागत करती थी, इसलिये नहीं कि मैं समाजवाद की पंडिता होने के लिये लालायिता थी, बल्कि इसलिये कि इस प्रकार उन्हें इकटक देखने का मौक़ा खूब लगता था। यह मैं बता दूँ कि मामूली मानदंडों से कौशिकजी कोई विशेष सुन्दर व्यक्ति नहीं थे। उनका रंग, चेहरा-मुहरा बहुत मामूली था। बिलकुल मामूली। पर उनकी आँखें, ओह उनमें कोई ऐसी बात थी जो मुझे बरबस उनकी ओर खींचती थी। यदि इन आँखों को छोड़कर इनके चेहरे को देखा जाता, तो वह उतना मामूली होता जितना मान लीजिये हमारे यहाँ का नौकर बदलुआ का था। पर इन आँखों से उनके इस चेहरे पर चार चाँद लग जाते थे। उनकी इस दृष्टि से उस चेहरे का हरेक कोना जगमगा उठता।

मैं कोई पर्देवाली लड़की नहीं हूँ। मैंने सैकड़ों पुरुषों को पास से देखा है, उनसे बातचीत की है, बहस की है। सभा-सोसाइटी में उनमें से बहुतों के इतना पास बैठी हूँ कि उनकी साँस मेरे चेहरे पर पड़ी है, पर मैंने कभी ऐसी अद्‌भुत आँखें, ऐसी दृष्टि, ऐसी आग कहीं नहीं देखी। हाँ, उनके पास आनेवाले कुछ नौजवानों की आँखों में मैंने कभी-कभी वही आग देखी है जो उनकी आँखों में निरन्तर रहती थी पर वह इतनी स्थिर नहीं थी।

इन नौजवानों की आँखों की वे आगें जलती-बुझती रहती थीं। पर कौशिकजी की आँख की वह आग ध्रुवतारे की तरह स्थिर शिखा से जलती ही रहती थी। पता नहीं यह कैसी आग थी।

मैंने सोचा है कि यह शायद समाजवाद की आग है। न मालूम यह किसे भस्म करने जा रही थी, न मालूम यह किस खांडव दहन के लिये संचित हो रही थी। पर नहीं यह समाजवाद की आग नहीं थी। यदि यह समाजवाद की आग थी, तो मुझे क्यों आकृष्ट करती थी। मैं कोई समाजवादिनी नहीं थी न हूँ। अवश्य मैं ऐसा कहने की अधिकारिणी नहीं हूँ क्योंकि जब मैं यही नहीं जानती कि समाजवाद क्या है, तो मैं ऐसा कैसे कह सकती हूँ कि मैं समाजवादिनी हूँ या नहीं। जो कुछ भी हो मेरा विचार है कुछ भी हो समाजवाद आखिर एक विचार ही है। मुर्दा चीज़ है। मुर्दा विचार नहीं कह रही हूँ पर मुर्दा चीज़ है। व्यक्तित्व के सजीव स्पर्श के बग़ैर निविड़ आन्तरिक अनुभूति के बग़ैर इस विचार में वह आग, वह तड़पन, वह ज्वाला कहाँ से आती, जिससे मैंने कौशिकजी के मुखमंडल को सदा उदभासित देखा है। यह दृष्टि उनके व्यक्तित्व की ज्योति थी। संभव है इसमें उनके विचारों की कुछ देन थी, पर वह देन रक्तमांस में अनुवादित होकर हमारे सम्मुख आती थी। वर्त्तमान समाज-पद्धति से मैं सर्वथा असन्तुष्टा हूँ, सच बात तो यह है कि मैं उसमें आमूल परिवर्तन चाहती हूँ, पर जैसा कि बता चुकी मैं समाजवादी नहीं हूँ। फिर भी उनकी दृष्टि मुझे इस प्रकार विह्वल कर देती थी, उसका कारण यह है कि वह ऐसे दिव्य, मनोज्ञ, सुन्दर, और सच बता दूँ, पुरुष के रूप में सामने आता था जिसके सामने मैं वैसी ही असहाय हो जाती थी जैसे कृष्ण की बाँसुरी से निकली हुई रागिणी के सम्मुख गोपियाँ रहती थीं।

हाँ, तो मैं उनकी तरफ़ खिंची, और खूब खिंची। मैं इसलिये और भी खिंची कि मैंने समझा हमारे मिलन के मार्ग में कोई बाधा नहीं है। मैं इसलिये आकृष्ट हुई कि मैंने समझा कि यदि कोई बाधा हो भी तो उसे एक ही झटके में तोड़ दूँगी। उनके सम्बन्ध में तो यह जानती थी कि उन्होंने आजन्म बाधाओं को तोड़ा ही है।

पर मैंने यह नहीं देखा था कि उनका कर्त्तव्य उन्हें मुझसे मिलने से रोकेगा। मुझे नहीं मालूम था कि उनके कर्त्तव्य की धारणा इतनी अद्भुत है कि प्रेयसी के रूप में एक छोटी-सी स्त्री का उसमें स्थान नहीं है।

प्रेम-विवाह की संभावना की धारणा ने ही मेरे जीवन को चौपट कर दिया। यह बात सच है कि मैं कालेज में पढ़ती थी, सिनेमा देखती थी, उपन्यास नाटक पढ़ती थी, प्रेम का नाम मैंने सुना था। मैं जानती थी कि प्रेम कोई अच्छी वस्तु है, पर मुझे न तो इसका अभाव ही ज्ञात होता था, और न मैं यही समझती थी कि स्वयं मेरे जीवन से प्रेम का कोई सम्बन्ध हो सकता है। मैं प्रेम की ओर उसी निगाह से देखती थी जिस निगाह से वर्त्तमान समाज-पद्धति में ग़रीब लोग शायद रोलस रायस कार को देखते होंगे। उनके लिये रोलस रायस कार की सवारी असंभव नहीं है, पर विशेष संभव भी नहीं है।

मैं अपनी कालेजी शिक्षा (मैं इसे उच्च शिक्षा कहूँ या न कहूँ इस सम्बन्ध में मुझे सन्देह है) के बावजूद प्रेम को Practical proposition नहीं समझती थी। मैं समझती थी पिता जी चाहे जितने भी मेरी विमाता के गुलाम हो गये हों, पर वे मेरे लिये कोई न कोई अच्छा वर ढूढ़ेंगे, फिर तक़दीर।

पर कौशिकजी ने स्त्रियों की स्वतंत्रता के प्रश्न को इस प्रकार सामने रक्खा कि प्रेम मेरे लिये इतना ही सुलभ जान पड़े जितना

कि साबुन की एक बट्टी। मैं उसकी तरफ़ दौड़ पड़ी। मैंने उन्हीं को अपना प्रेमपात्र चुना। मैंने उन्हीं पर अपने हृदय को पिघलाकर उँडेल दिया। मैं चाहती थी उन्हीं के साँचे में ढलकर मैं अपना जीवन सार्थक करूँ। यदि वे कहते मैं भाग खड़ी होती। यदि वे कहते मैं कुएँ में कूद पड़ती, यदि वे कहते मैं सुकरात की तरह विप पी जाती, पद्मिनी की तरह आग में कूद पड़ती। यदि वे इशारा कर देते, मैं उनकी रखैली होकर रहती। लिखते-लिखते मेरी आँखों में आँसू आ रहे हैं। पर....

मेरा अब यह कहना है कि प्रेम-विवाह के आदर्श ने ही मेरा सर्वनाश किया। अच्छा होता यदि मैं पुराने आदर्श या यों कहिये आदर्शहीनता पर पलती। जिस भी लायक़ या नालायक़ के गले मढ़ दी जाती उसीको मैं पति, पूज्य तथा परमेश्वर समझती। अवश्य इसके माने यह नहीं कि इससे सुख मिलता। नहीं, सुख शायद न मिलता, पर दुःख भी, कम से कम, इस प्रकार दुख कभी न मिलता।

प्रेम-मूलक विवाह के आदर्श के प्रतिपादन में शतमुख लोग मुझे इस बात का जवाब दें कि जिस प्रकार मेरे क्षेत्र में प्रेम एकतरफ़ा हुआ, उस हालत में जो दुःख होगा, जो मनोभंग उत्पन्न होगा, उसकी विपत्ति को उठाकर प्रेम में पड़ने के बजाय क्या यह अच्छा न होगा कि ढिंढोरा पीटकर यह कह दिया जाय कि कोई प्रेम न करे। या तो प्रेम-मूलक विवाह के प्रतिपादक इस बात की गारंटी करें कि एक पक्ष के मन में प्रेम उत्पन्न होते ही दूसरे पक्ष के मन में भी प्रेम अवश्य उत्पन्न होगा, और इस प्रकार प्रेम सफल होगा, या तो वे बाजार से प्रेम नामक इस भयंकर सामग्री को वापस कर लें।

विरह, प्रत्याख्यान पाकर हृदय भंग या मनोभंग पर जो विराट साहित्य हमारी देशी भाषाओं में है, संस्कृत की बात मैं

नहीं जानती, उसे सामन्तवादी, ह्रासशील बेकार जल्पना कहकर उड़ा देने की आजकल एक परिपाटी चल पड़ी है। किन्तु क्या ये कवितायें बिलकुल अवास्तव हैं ? क्या हमारी मनोभावनाओं से उन कविताओं का कोई सम्बन्ध नहीं है ? मैं कौन-सी सामन्तवादी युग की लड़की हूँ, मैं कालेज में पढ़ती थी, अंग्रेजी फर्राटे की बोलती हूँ, बैडमिंटन खेलती थी, रूज, लिपस्टिक व्यवहार यदि नहीं करती थी, तो करना जानती थी; शा, गैल्सवर्दी, रवीन्द्र का रस लेती हूँ; सबसे बड़ी बात है जमीन्दारी-प्रथा, सामन्तशाही और पूँजीवाद की विरोधी हूँ, समाजवादी रूस की प्रशंसिका हूँ, पर मैं यह अनुभव करती हूँ कि प्रेम में पराजित होकर मेरे हृदय में जो भावनायें उत्पन्न हुईं, उन्हें मध्ययुग के कवियों ने खूब अदा किया। यदि यह प्रतिक्रियावाद है, तो मैं प्रतिक्रियावादिनी ही सही, पर सत्य को कहने से चूक नहीं सकती।

मध्ययुग का प्रेम-विरहमूलक जो साहित्य है, उसे केवल सामन्तवादी कहकर इतिहास के कूड़ेखाने में ढकेल देने की चेष्टा शायद समाजवादियों के द्वारा की जा रही है, पर मैं अनुभव करती हूँ यह ग़लत है। क्या समाजवाद का हृदयतंतुओं से, हृदय की सूक्ष्मतम अनुभूतियों से कोई सम्बन्ध नहीं है ? यदि नहीं है तो अवश्य ही कहीं न कहीं पर इसमें बड़ी भारी कमी है, कहीं न कहीं पर बड़ी भारी ग़लती है। क्या समाजवाद केवल दन्तकटाकटी मात्र है ? मैं इसे नहीं मानती। यदि समाजवाद रक्त-मांस स्पर्शहीन दन्तकटाकटी मात्र होता तो वह रूस ऐसे एक बिराट देश को जहाँ काल्पनिक-मनुष्य नहीं वास्तविक मनुष्य रहते हैं, कभी आन्दोलित तथा आलोड़ितकर अपने साथ नहीं ले जा सकता।

जो कुछ भी हो मुझे उन दिनों ऐसा प्रतीत होता था कि मध्ययुग की प्रेमविरहमूलक कविताओं में मेरे ऐसे लोगों की मानसिक भावना प्रतिफलित हुई हैं। मैं उन कविताओं में जीवन का

स्पंदन पाती थी, मेरे जीवन का स्पंदन। तभी कौशिकजी के द्वारा प्रत्याख्याता हो जाने पर मैं वैष्णव पदावली, मीरा, विद्यापति पढ़ने लगी। उनके पढ़ने से मुझे अजीब शान्ति मिलने लगी। मेरा दुःख जैसे युगों के पार जाकर राधा और गोपियों के दुःख में घुलमिलकर खो जाने लगा। वाह इस साहित्य में व्यक्ति के छोटे सुख-दुःखों को कैसे एक क्लासिक-एपिक विराट रूप दिया गया। कभी मैं इस साहित्य को सामन्तवादी समझती थी, पर मैं अब उनको दूसरे ही रूप में पाने लगी। वे मानवीय गुणों से पूर्ण हैं। उनमें हृदय की अनुभूतियाँ चित्रित हैं। क्या मानवीय गुण तथा सूक्ष्म अनुभूतियाँ सामन्तवाद की ही विशेषता है? क्या समाजवाद में उनके लिये कोई स्थान नहीं है? क्या आज के रूस में प्रेयसियाँ प्रियतम की प्रतीक्षा नहीं करतीं? मैं तो नहीं समझती कि रूस में प्रेयसियाँ प्रेयसी नहीं रहीं; कुछ और हो गई हैं। मैं नहीं मानती कि रूस में विरहिणी क्रन्दन नहीं करतीं। सच तो यह है कि कौशिकजी ने मुझे कुछ और ही बताया था। उन्होंने यह कभी नहीं कहा कि समाजवादी रूस में प्रेम के लिये गुंजाइश नहीं है। उन्होंने तो बल्कि यही कहा कि समाजवाद में ही पहली बार प्रेम के लिये गुंजाइश उत्पन्न हुई है क्योंकि समाजवाद में ही हृदय पर रुपयों का दबाव खतम हो जाता है, समाजवाद में ही पहली बार प्रेम मुक्त हो जाता है।

मैं इसीलिये समझती हूँ कि कौशिकजी की यह भारी गलती है कि वे समझते थे कि क्रांतिकारी के जीवन में स्त्री या प्रेम के लिये कोई स्थान नहीं है। यह उनका समाजवाद नहीं, यह आतंकवादी विचारों का अवशेष है। सक्रिय आतंकवादी को शायद स्त्री या प्रेम के झमेले में न पड़ना ही अच्छा होगा। इसीलिये आतंकवादीगण इसमें नहीं पड़ते थे यह ठीक ही था।

× × ×

कई दिन तक मैं वैष्णव कविता पढ़ती रही और चुपके से रोती रही। फिर मेरे लिये वह जीवन असह्नीय हो गया।

मैं भाग खड़ी हुई। शहर में ही रही, पर एक दूसरे मुहल्ले में एक सहपाठिनी के यहाँ टिक गई। सहपाठिनी मेरे प्रेम के सम्बन्ध में कुछ-कुछ जानती थी। अधिक नहीं पर इतना कि मेरे साथ सहानुभूति रक्खें।

मैं क्यों भागी यह समझना मुश्किल है। वाक़ई आज मैं इस बात को नहीं समझ पाती। भागने में मेरा क्या बना? बना नहीं; कुछ बिगड़ा ही, पर उस समय भागना ही मुझे उचित ज्ञात हुआ। मैं बिना भागे रह नहीं सकी। पता नहीं इस प्रकार मैं क्या उम्मीद करती थी कि क्या होगा?

भागने के दो-तीन दिन के अन्दर मेरी तस्वीर सब अखबारों में निकल गई। एक दिन मेरी आश्रयदात्री सहपाठिनी इन्दिरा बोली—तुम्हारी तलाश में कौशिकजी कालेज में आये थे।—बोल-कर वह हँसी। मैं हँसी नहीं। मैंने गंभीर होकर कहा कौन? कौशिकजी?

हाँ, स्वयं कौशिकजी। बहुत घबड़ाये हुए मालूम होते थे।

मैंने कहा—घबड़ाए हुए? घबड़ाए हुए क्यों?

क्या जानूँ! चेहरा बहुत उतरा हुआ था, कुछ शायद ऐसे कहा कि उनकी बदनामी हो सकती है।

इन्दिरा की इतनी बात सुनकर मेरी खुशी जाती रही। मैंने सोचा था शायद पछता रहे हों, पर यह बात सुनी तो मुझे बड़ी अश्रद्धा हुई। कौशिकजी को मेरी फिक्र नहीं है, अपने शुभ्रचरित्र पर धब्बा लगने की फिक्र है। न मालूम इस शुभ्रचरित्र की ख्याति से जिन्दगी में उन्होंने कौन से शेर मार लिये। इस प्रकार अपनी सुख्याति की फ़िक्र भी एक प्रकार की विपरीत मनोवृत्ति है। इस-

में कोई सार नहीं है। यह केवल अहंकार का नामान्तर है, और शायद आत्मप्रवंचना भी है।

मैंने इन्दिरा से दूसरी बातें छेड़ दीं, पर उसका जी तो उसी में लगा हुआ था। बोली—आदमी बड़ा अद्भुत है!

मैंने सोचा न मालूम क्या कह जाय। शायद कुछ बुराई करे। मैं स्वयं इस समय मन ही मन उनकी निन्दा कर रही थी, पर यह मुझसे नहीं हो सकता था कि मैं किसी और को उनकी बुराई करते सुनूँ! क्या यह प्रेम है? हो सकता है, केवल आत्मश्लाघा हो। कौन स्त्री ऐसा सुनना पसन्द करेगी कि उसने जिस पुरुष का निर्वाचन किया है वह अपात्र है? मैंने दाँत दबाकर सहमते हुए कहा—कैसा अद्भुत?

कोई खास बात नहीं, आदमी कुछ अजीब मालूम हुए।

क्यों?

नहीं तो क्या? मुश्किल से हम लोगों से दस मिनट बात हुई होगी, इसी बीच में मुझसे बोल उठे 'आपलोग कोई खद्दर पहनतीं नहीं? और कोई होता तो मैं यही कहती कि यह बद-तमीज है।...

मैंने दोषस्खलन करते हुए कहा—नहीं बदतमीज तो नहीं हैं, हैं तो बड़े सलीक़ेदार, पर अपनी धुन के पक्के हैं....

इन्दिरा बोली—तुम तो बताती थी कट्टर समाजवादी हैं रूस के हामी हैं, यह हैं, वह हैं, पर यह खद्दर की सनक कैसी? मुझे तो भला आदमी गान्धीवादी मालूम हुआ—कहकर इन्दिरा ने मुँह बिचका लिया....

मैंने ज़ोर से हँसते हुए कहा—नहीं, नहीं, नहीं, तुम ग़लत समझीं। वे कट्टर समाजवादी हैं, कुटीर शिल्प, चर्खा आदि का मज़ाक उड़ाते हैं, पर यह कहते हैं कि कुछ न होने से गान्धीवादी होना अच्छा है। उनके अनुसार ये सब सीढ़ियाँ हैं। गान्धीवाद

के सम्बन्ध में उनका कहना है कि यह जनता तक उल्टी-सीधी राजनीति कुछ ले तो आया। यह इसकी महान सेवा है। अब गान्धीवाद का युग गया, समाजवाद का युग आ गया।

इन्दिरा ने कहा—होगा भाई। मैं राजनीति नहीं समझती। तुम जानो, तुम्हारे वे जानें, मुझे तो आदमी कुछ मग़रूर और कुछ स्त्रीविद्वेषी मालूम हुए।

मैंने कहा—क्यों ?

इसलिये कि उन्होंने हम लोगों को औरत ही नहीं समझा। उनकी उम्र के लोग हम औरतों को जिस दृष्टि से देखते हैं, वे उस दृष्टि से क़तई देखते नहीं मालूम हुए। उनकी दृष्टि के नीचे मैं ऐसे अनुभव करने लगी जैसे वे मेरे मास्टर हैं और मैं उनकी छात्रा हूँ। मैंने ऐसा अद्भुत आदमी कभी नहीं देखा।

इन्दिरा दूर आकाश की ओर देखने लगी। सन्ध्या का सुहावना समय था। कहीं से चमेली की मीठी ख़ुशबू आ रही थी। शायद सामने के रास्ते से कोई अपनी प्रेयसी के लिये चमेली का हार ले जा रहा था। बरबश मोती-सी एक बूँद मेरी आँखों से लुढ़क पड़ी। इन्दिरा क्या जानती थी कि उसके वर्णन ने बारी-बारी से मेरे मन में क्या-क्या झंकार छेड़ दिया था। हम दोनों चुप बैठी रहीं। थोड़ी देर बाद इन्दिरा कमरे से शायद टहलने निकल गई।

मैं तो कहीं जा नहीं सकती थी, वहीं बैठी रही। मैंने स्विच दबाकर बत्ती नहीं जलाई। अँधेरे में बैठकर पुरानी घटनाओं को टटोलने लगी। अँधेरे में बाहर की चीज दिखाई नहीं देती पर अपने हृदय के अन्दर को कोई देखना चाहे तो अँधेरे में ख़ूब देख सकता है। सोचते-सोचते एकाएक मेरे हृदय में यह भावना आई, और बड़े ज़ोर से आई कि मेरी सारी विपत्ति और दुर्भाग्य का कारण हमारे देश की पराधीनता है। अद्भुत बात थी, पर

जितनी बार भी मैंने इस विषय पर विचार किया, उतनी ही बार मैं इसी नतीजे पर पहुँची। मैंने सोचा यदि देश पराधीन न होता, तो कौशिकजी राजनीति में क्यों फँसते ? तब तो मिलन में कोई बाधा न होती ! साथ ही यह जो विश्वव्यापी महायुद्ध हो रहा था, मुझे उसके कारण बिछुड़े हुए सैकड़ों हृदयों की याद आई। आखिर इनका क्या दोष था ? कौन किस हिटलर के दिमाग में सनक आई या किसी देश के पूँजीपतियों को उपनिवेश की इच्छा हुई और यह कुरुक्षेत्र छिड़ गया। इस प्रकार मैंने देखा कि मैं कोई अकेली दुःखिनी नहीं हूँ। मैंने देखा मेरा दुःख जगतव्यापी दुःख का एक हिस्सा है। मैंने देखा दोष मेरे भाग्य का नहीं बल्कि विश्व में प्रचलित सामाजिक-राजनैतिक पद्धति का है। इस विचार से कुछ देर के लिये मेरा दुःख दूर हो गया। पर यह केवल कुछ देर के लिये। थोड़ी ही देर में फिर उसी व्याकुलता ने मेरे हृदय पर आधिपत्य जमा लिया। हो यह दूषित सामाजिक-राजनैतिक पद्धति, हो यह विश्वव्यापी महायुद्ध पर फिर भी बहुत से तो सुखी हैं ! मैं भी तो इन्हीं में हो सकती थी। फिर कौशिक-जी ही अकेले कौन इस पद्धति को बदले डाल रहे हैं। अधिकांश भारतीय तो अब भी छदाम त्याग करने के लिये तैयार नहीं हैं, इनमें तो देशप्रेम है ही नहीं।

फिर मैं अपने ही द्वारा बनाये हुए सान्त्वना के गुम्बद से धम्म से अपने दुःख के सागर में डूब गई। कहीं सामाजिक-आर्थिक पद्धति पर मनन भी किसी को विरह की या प्रत्याख्यान की भड़कती हुई ज्वाला से बचा सकता है ? रहा लोग दुःखों को सह ही रहे थे। रूस से लेकर अस्ट्रेलिया तक सैकड़ों हृदय व्यथा से जर्जर थे। बहुतों का तो अपने प्रियजनों से चिरवियोग हो गया था। एक गोली ने या एक स्प्लिंटर ने उनके सुख की सारी आशा पर शायद हमेशा के लिये पानी फेर दिया था।

मैं इन्हीं परस्पर विरोधी तरंगों के थपेड़ों में कभी तसल्ली, यहाँ तक कि आत्मप्रसाद के शिखर पर आरोहण करती रही, और कभी धम से दुःख के अतल जल में डूबती। इतने में इन्दिरा टहलकर आ गई।

आज उसकी चाल में जल्दी थी। मेरा इस प्रकार अँधेरे में बैठी रहना उसके लिये कोई आश्चर्य की बात नहीं थी। वह चिल्लाकर बोली—उर्मिला! उर्मिला!

मेरा नाम तो तारा था, पर एहतियातन उर्मिला रख लिया गया था। मैं विचार यह था कि बाहर से तारा नाम सुनकर कहीं कोई सन्देह न करे। इसी शहर में सैकड़ों तारायें थीं, पर मेरा तो मन दोषी था न? मैं डरती थी कि कहीं राज़ न खुल जाय। मैंने ही यह नाम चुना था। उर्मिला काव्य की उपेक्षिता है। यों उत्तरकांड सहित रामायण को मानने पर सीता का भी चरित्र काफी करुण है, पर सीता के विरह में लोग आँसू ढार-ढारकर हज़ारों वर्षों से रो रहे हैं, पर उर्मिला की विरह वेदना को तो किसी ने नहीं देखा। नाम चुनते समय मेरी इच्छा हुई थी कि मैं अपना नाम सीता रक्खूँ, फिर सोचा मैं अपने राम की सीता हो कहाँ पाई। मेरा तो उत्तरकांड अयोध्याकांड के पहले अर्थात् राम की सीता बनने के पहले ही हो गया था। हाँ, मुझे प्रेम की एकलव्या कहा जा सकता है। प्रियतम के नाम पर ही साधना कर रही थी। मान न मान प्रेयसी बनी हुई थी। सब बातों को सोचकर मैंने अन्त तक उर्मिला नाम पर ही सन्तोष किया।

इन्दिरा ने चिल्लाकर कहा—उर्मिला! उर्मिला!

मैंने झपटकर स्विच दबाते हुए कहा—क्या है कहो भी?

इन्दिरा जोश में थी। बगल से एक पुलिन्दा निकालकर बोली—देखो क्या लाई हूँ।

मैं आश्चर्य में हो गई, मैंने पुलिन्दे को खोलते हुए कहा—अरे यह तो खद्दर की साड़ियाँ हैं।

हाँ, अभी मैं खद्दर भंडार गई थी, वहाँ से दो साड़ियाँ और कुछ कपड़े ले आई...

मैंने समझा मेरे लिये लाई है। मैं कुछ कहना चाहती थी कि इन्दिरा बोली—मैं तो समझती थी कि खद्दर का कपड़ा बड़ा खराब होता है, पर यह तो बहुत अच्छा है। मैं अब से खद्दर पहनूँगी...

मैं एकाएक सहम गई। न मालूम क्यों मुझे इन्दिरा का यह निश्चय अच्छा नहीं लगा। कुछ लड़कपन मालूम दिया। मैंने पुलिन्दे से हाथ हटा लिया। मैंने कहा—तुम खद्दर पहनोगी ? कहती क्या हो इन्दिरा!

हाँ, मैं कोई राजरानी थोड़ी ही हूँ। रानी भी हूँ तो क्या रानियाँ खद्दर नहीं पहनती हैं? जब हमारे देश के अच्छे से अच्छे लोग खद्दर पहनते हैं तो क्या मैं खद्दर नहीं पहन सकती ?

मैंने इन्दिरा के चेहरे को ध्यान से देखा। कुछ सन्देह हुआ, कुछ कौतुक। मैंने कहा—जाने दो इन्दिरा दो दिन का शौक़ है, फिर कहोगी गड़ रही है......

—जी हाँ, मैं बड़ी सुकुमार हूँ। बैडमिंटन के सिंगुलस में रोज तब गेम देती हूँ और मैं खद्दर के बोझ से दब जाऊँगी ?

मैं एक मुहूर्त चुप रही, फिर जान बूझकर चोट पहुँचाती हुई बोली—तो एक ही बार मुलाक़ात में तुम पक्की चेली हो गईं।

इन्दिरा का चेहरा कान तक लाल हो गया। फिर उसके चेहरे पर क्रोध के लक्षण दिखाई पड़े। बोली—किसकी चेली!

तुम्हारे उस कौशिकजी की ! —फिर उन साड़ियों की तरफ़ देखती हुई जोर से बोली—सौ जनम में भी नहीं हो सकती।

मुझको आगे कुछ न कहना चाहिये था। पर मेरे अन्दर से न मालूम कौन बोल उठी—तो एकाएक यह खद्दरभक्ति आ कहाँ से गई ?

इन्दिरा बोली—तुमने कैसे जाना कि यह भक्ति एकाएक है। मैं बहुत दिनों से सोच रही थी।

मैंने कहा—बधाई !

अब इन्दिरा भी चिढ़ गई। चिढ़ाने के उद्देश्य से बोली—अगर तुम्हें मेरा खद्दर पहनना बुरा लगे तो मैं लौटा आऊँ, अब भी समय है।

मैं सँभल गई। समझ गई कि व्यर्थ का वितंडा है। न सूत न कपास लट्ठम-लट्ठा है। मैं ही दब गई। मैंने कहा—तुम खद्दर पहनोगी, यह तो और ख़ुशी की बात है। मैंने तो योंही मज़ाक में कहा था।

इस प्रकार झगड़ा निपट गया, किन्तु झगड़े की जड़ में जो बात थी, वह नहीं निबटी। काँटा तो निकाल लिया गया, पर उसकी ख़लिश बाक़ी रही। यह मेरी आँखों का भ्रम था या कुछ और बात थी पता नहीं, अब इसके बाद से मैं देखने लगी कि इन्दिरा में कुछ परिवर्तन आ रहा है। चेहरे पर अब वह तरल कौतुकप्रवणता नहीं रही, अब उस पर एक काठिन्य आ गया था। तितलीपन दूर होने लगा। जैसे एकाएक किसी कर्त्तव्य का कर्कश बोझ उस पर आकर जमकर बैठ गया। कर्त्तव्य भी ऐसा जिसकी प्रेरणा बाहर से नहीं, अन्तरतम हृदय से आई हो। एकाएक जैसे वह नाबालिग़ से बालिग़ हो गई। उसकी आँखों पर सहसा एक स्वप्न हर समय छाया रहता।

इन्दिरा अब मुझसे कम बात करती थी। वह इतनी सुसंस्कृता थी कि अनादर तो क्या करती, पर मेरे प्रति उसका चुलबुला व्याकुल आग्रह एकाएक दूर हो गया था। जैसे नदी एकाएक महा-सागर को प्राप्त कर लेती है, तो उसका सारा कोलाहल, तरंगों का संघर्ष, बाह्य और आभ्यन्तरिक कशमकश दूर हो जाता है, उसी प्रकार इन्दिरा की हालत हो रही थी। उसे जैसे एकाएक जीवन की कला का रहस्य ज्ञात हो गया था। जब नववधू मिलन के लिये चलती है, तो वह पग-पग पर परख कर देखती है कि कहीं उसके पैरों की मेंहदी कहीं से फ़ीकी तो नहीं पड़ गई, कहीं से अंगराग कुछ स्थानभ्रष्ट तो नहीं हो गया है किन्तु जब वह प्रियतम के वक्षस्थलमें पहुँच जाती है तो उसे फिर इसकी फ़िक्र नहीं रहती कि मेंहदी घिस गई या बिंदिया हट गई, मुझे अब इन्दिरा की हालत उसी प्रकार मालूम होती थी जैसे वह सब कुछ पा चुकी हो। सब कुछ नहीं तो सब कुछ का सन्धान।

आखिर कौन-सा वह महासागर है ?

यह महासागर कोई सर्वग्रासी विचार है, या कोई व्यक्ति है ?

कहीं यह व्यक्ति कौशिकजी तो नहीं हैं ?

यह विचार मेरे मन में आते ही मेरा दम घुटने लगता। हृदय में एक ज्वाला का अनुभव होता। आजकल इन्दिरा बार-बार खद्दर की साड़ी पहिनकर मोटर लेकर कहाँ जाती है ? यहाँ मैं बता दूँ कि इन्दिरा रीवाँ रियासत की एक बहुत बड़े सर्दार की लड़की थी। वह यहाँ पढ़ती है। निजी हवेली, नौकर-चाकर, एक बुढ़िया मौसी, दो अध्यापिकायें इत्यादि हैं। सर्दार साहब जब कभी त्रिवेणी स्नान करने आते हैं तो दो-एक दिन रह जाते हैं। इन्दिरा की माँ बहुत पहले ही मर चुकी हैं। मैं जब से भाग कर आई हूँ तब से यहाँ पर सर्दार साहब नहीं आये, आते तो

कुछ न कुछ बता दिया जाता। कौन जाँचता है कि मैं वाक़ई में कौन हूँ।

इन्दिरा जब मोटर लेकर इधर-उधर जाती तो मुझे सन्देह होता कि यह चुड़ैल कहीं कौशिकजी से मिलने तो नहीं जा रही है। जब गहराई के साथ सोचती तो मैं अपनी आशंका पर ख़ुद हँस पड़ती। जहाँ मैं वर्षों की साधना के बाद असफल रही वहाँ यह दुधमुँही इन्दिरा क्या ख़ाक कर लेगी? यदि कौशिकजी को मेरी जरूरत नहीं है तो क्या इन्दिरा की जरूरत होगी? पर फिर सोचती it is the last straw that breaks the camel's back—यह बात सभी क्षेत्र में सही है। मैं कौशिकजी के हृदय में पैठ नहीं पाई किन्तु उसे मैंने कुछ नरम तो जरूर कर दिया था। क्या पता इन्दिरा ही उनकी तपस्या के भंग के लिए आख़िरी तिनका साबित हो। मैंने पढ़ रक्खा था कि बड़े-बड़े ऋषि-मुनियों का एक हद तक जाकर तपोभंग हो गया। क्या पता कौशिकजी उसी विन्दु पर पहुँच चुके हों?

ये विचार मुझे तड़पा देते थे। मैं दिल पर पत्थर रखकर बैठी रहती थी। क्या करती? स्वयं बाहर जा नहीं सकती थी। नतीजा यह है कि मेरा अजीब हाल होने लगा। क्या इसीको ईर्ष्या कहते हैं?

एक दिन जब इन्दिरा खद्दर की साड़ी में बनठनकर निकलने ही वाली थी तो मैंने साहसपूर्वक उसके सामने जाकर जहाँ तक भी स्वाभाविक लहजे में हो सकता था कहा—बहन, आज मैं भी तुम्हारे साथ मोटर में सैर करने चलूँगी घर के कोने में बैठे-बैठे जी ऊब गया...

मुझे ऐसा मालूम दिया कि मेरी बात सुनकर इन्दिरा का चेहरा एक मुहूर्त के लिये ऐसा हिंस्र हो गया मानो

वह मुझे फाड़ खायेगी, पर सँभलकर बोली—क्या बात करती हो उर्मिला ? कहीं किसी ने पहचान लिया तो सब भंडाफोड़ हो जायगा ।

बात तो बहुत ठीक थी, पर मुझे ऐसा मालूम दिया कि यह मुझसे चालाकी कर रही है। एक मुहूर्त के लिये भीतर से एक ऐसी दुर्दमनीय इच्छा हुई कि अभी इस पर टूट पड़ूँ और इसकी सब बदमाशी ठीक कर दूँ। पर मैं सँभल गई, मैंने कहा—अच्छा चलो मैं घूँघट काढ़कर मोटर में बैठूँगी, फिर कैसे भला कोई पहचानेगा ?

मेरा इतना कहना था कि वह बहुत जोर से हहराकर हँस पड़ी और बोली—वाह उर्मिला तुम तो बच्चियों की-सी बात करती हो। घूँघट लगाकर चलोगी तो फिर सैर का मजा क्या आयेगा ?—फिर तसल्ली देने के लहजे में बोली—किसी दिन रात को शहर घुमा लाऊँगी, दिन में यह काम ठीक न होगा। न हो आज ही लौटकर ले चलूँगी।

इस बात पर मुझे क्रोध तो बहुत आया पर कह क्या सकती थी ? मेरे मन में सन्देह और दृढ़ हो गया। मैंने सोचा हो न हो कुछ दाल में काला अवश्य है। पर मैं क्या कर सकती थी ? मैंने तो अपने हाथों से ही अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मार ली थी। मैंने अपने को एक ऐसी परिस्थिति में डाल लिया था कि मैं पर्दानशीन स्त्रियों से भी बुरी हालत में हो गई थी। मेरा जी तो यही चाहता था कि इस चुड़ैल के साथ चौबीसों घंटे रहूँ, देखूँ कि यह राँड़ खद्दर पहन-पहनकर, राष्ट्रीय झंडे का बैज लगाकर कहाँ जाती है, पर क्या करती ?

इन्दिरा समझाकर और तसल्ली देकर चली गई। पता नहीं यह मेरे विकारग्रस्त मन की सृष्टि थी या सचमुच घटित हुई थी कि मैंने देखा कि मोटर के पोर्च की ओर बढ़ती हुई इन्दिरा जैसे

हँसी। यह हँसी जहाँ तक मैं समझ सकी विजय की हँसी थी।

मैं तिलमिलाकर रह गई। मोटर दन से आँखों के ओझल हो गई।

जब वह चली गई तो मैं अपने कमरे में जाकर बैठ गई, और लगी इधर-उधर की बहुत-सी बातें सोचने कि आगे क्या करना चाहिये। इस तरह भागकर तीन महीने तो होने आ रहे हैं। जन्म भर इस प्रकार तो नहीं रह सकती हूँ। फिर अब इन्दिरा का संग मुझे फूटी आँखों भी न भाता था। खैरियत यह है कि मैं आर्थिक रूप से उस पर निर्भर नहीं थी। मैं साथ में पाँच सौ के क़रीब निजी रूपये ले आई थी। उन्हीं में से तीस के हिसाब से इन्दिरा को प्रतिमास देती थी। वह पहले लेने को बिलकुल राजी नहीं हुई थी, पर जब मैंने उस हालत में उसके आश्रय में रहने से इनकार किया तो वह राजी हो गई।

बोली—अच्छी बात है, समझूँगी कि तुम्हारे रुपये जमा हो रहे हैं।

किसी पर रुपये-पैसे के लिये या आर्थिक रुप से निर्भर रहना ही शायद सबसे बड़ा दु:ख है क्योंकि यही पराधीनता है। विशेष-कर ऐसे व्यक्ति पर आर्थिक रूप से निर्भर होना जिस पर से किसी कारण से मन फिर गया है, इससे बढ़कर शायद कोई और ग्लानि नहीं है। जो कुछ भी हो इस समय यह सोचकर कि मैं इन्दिरा पर आर्थिक रूप से निर्भर नहीं हूँ बड़ी तृप्ति हुई। यह कोई काल्पनिक तृप्ति नहीं बल्कि वास्तविक तृप्ति थी।

मैं तरह-तरह की योजनायें सोचने लगी कि कैसे अपने जीवन के इस जिच को दूर करूँ पर जो भी अच्छी से अच्छी योजना सोचती, सबकी सब आकर उसी एक भयंकर चट्टान से टकराकर जलसमाधि प्राप्त करती कि मैं भागी हुई हूँ। न तो मैं कौशिकजी की गतिविधि को ही देख सकती थी, न मैं यही जान सकती थी

कि यह इंदिरा मटक-मटककर कहाँ जाया करती है । अजीब असहायता थी । मैं पर्दा नहीं मानती थी । पर आज मुझसे बढ़-कर पर्दानशीना कौन थी । जीवन बड़ा विचित्र है, नहीं तो दुनिया में कोई भी शक्ति ऐसी नहीं थी, यहाँ तक कि कौशिकजी की भी यह शक्ति नहीं थी कि वे मुझे पर्दानशीन बना सकें पर यहाँ मैं पर्दे में पड़ी-पड़ी झीख रही थी, और उधर शायद मेरे सर्वस्व पर डाका पड़ रहा था । और मैं उफ़ भी नहीं कर सकती थी ।

आखिर एक दिन इस जिच को तोड़ना ही पड़ेगा, फिर क्यों न समय रहते तोड़ दूँ । मैंने किसी के यहाँ चोरी तो की नहीं है कि पकड़ी जाते ही जेल की हवा खानी पड़ेगी, ज्यादा से ज्यादा यही होगा कि पिताजी के यहाँ पहुँचा दी जाऊँगी । लोग अवश्य पूछेंगे कि इतने दिन कहाँ थी सो इन्दिरा को ले जाकर खड़ी कर दूँगी । कोई मैं किसी गुण्डे के साथ कुल में कालिख पोतकर थोड़े ही भाग गई थी ? फिर क्या फ़िक्र है कौशिकजी क्या कहेंगे ? सो उनको बता दूँगी कि निर्दयी तुम्हारे ही लिये मैं भागी थी । कह दूँगी कि देख लिया तुम्हारे ऐसे लोगों के लिये जीवन देना व्यर्थ है । मन ही मन मैंने एक पूरा लेक्चर तैयार कर लिया कि कौशिकजी को यों डाटूँगी, अन्त में अगर न मानेंगे तो पैर पर गिर पड़ूँगी और तब तक नहीं छोड़ूँगी जब तक वे सम्पूर्ण रूप से मन से और शरीर से मेरा होना स्वीकार न करें ।

इस प्रकार शरद ऋतु के आकाश की तरह कितने ही नक़्शे बने, और फिर बिगड़े, फिर बने और फिर बिगड़े । जिसके जीवन में कुछ वास्तविक रस नहीं था, वह कल्पना से रस खींचने में क्यों चूके ? कल्पना की दुनिया तो बसी रहनी ही चाहिये । पर कुछ तय नहीं हो पाया ।

एकाएक मेरे मन में एक बात आई। अरे यह इतनी मामूली बात थी, अब तक क्यों नहीं आई ? मेरी यह हालत हुई कि जैसे ऐसा कुछ पा लिया जिससे जिच हल हो गया, और मैं चिल्ला उठूँ—यूरेका ! यूरेका ! पा लिया ! पा लिया !

मैं इस बात के लिये लालायित हो गई कि फ़ौरन इस तरकीब को अजमाऊँ। पर इस समय उसका मौका नहीं था।

अगले दिन जब इंदिरा को कालेज में पहुँचाकर शोफ़ार घर में मोटर लेकर लौट आया (वह रोज ऐसा ही करता था) तो मैं उसके पास पहुँची।

आदमी अधेड़ उम्र का था। वह जानता था कि मैं इन्दिरा की प्यारी सहेली हूँ, माता के देहांत हो जाने के कारण यहाँ हवा बदलने आई हूँ। मैंने कहा—मोहनसिंह तुमसे एक जरूरी बात है।

मोहनसिंह बैठा था, खड़ा हो गया, आश्चर्य से मुझे देख-कर फिर सिर नीचाकर बोला—क्या बात है ?

मैंने देखा कि मैंने ग़लत तरीके से बात शुरू की, कहीं यह घबड़ा न जाय और बाद को इन्दिरा से कह न दे। मैंने असली बात न बताकर कहा— यह बता सकते हो आजकल एक ऐसे कार का क्या दाम होगा ?—मैंने दूर पोर्च में खड़े कार की ओर इशारा किया।

मोहनसिंह मेरा प्रश्न सुनकर हँस पड़ा। उसके चेहरे से ऐसा जान पड़ा मानो वह कह रहा हो खैरियत है, मैंने सोचा था न मालूम क्या बात है। मैं यही चाहती थी। उसने प्रश्न का उत्तर दिया। न मालूम कितने हजार बताया। फिर उसने मुझे कारों पर एक तुलनात्मक व्याख्याना दे डाला। मैंने जहाँ तक हो सका धैर्य के साथ उसका व्याख्यान सुना। असल में मैं यह सोचने में व्यस्त थी कि बात कैसे घुमाऊँ कि मुद्दा पर पहुँचे।

मैंने कहा—मैंने सुना है तुम बहुत अच्छे ड्राइवर हो...

मोहनसिंह की बाछें खिल गईं, बोला—आप तो कभी मेरे कार पर चढ़ी नहीं, आप क्या जानें ?

—मेरी तबियत अच्छी नहीं रहती। तुम कार कितनी रफ़्तार तक चला सकते हो ?

—सो बीबी जी कितने जोर से चलाऊँ यह कार, सड़क और सवारी सभी बातों पर मुनहसर है। सर्दार साहब को लेकर कई बार मैंने गाड़ी लगातार छै घंटे तक सौ मील की रफ़्तार पर भगाई—कुछ मामूली-सा हँसकर बोला—कुछ ऐसा ही काम पड़ता था।

मैंने सर्दार साहब के उस विशेष काम के सम्बन्ध में ज़रा भी कौतूहल न दिखाते हुए कहा—तो यहाँ शहर में तो स्पीड का मौका नहीं मिलता ?

—नहीं, किसी-किसी सड़क में लगता है। ये शहर कोई मोटर के ख्याल से थोड़े ही बनाये गये थे, ऐसी-ऐसी सड़कें हैं कि गली को मात करती हैं। तभी तो मिलिटरी लारी से रोज ऐक्सिडेंट होते हैं।—फिर कुछ ठहरकर बोला—इसमें इन ड्राइवरों का क़सूर भी क्या है, ज़रा गाड़ी आगे बढ़ाना, पीछे हटाना आ गया कि मिल गई ड्राइवरी, फिर ऐक्सिडेंट न हों तो क्या हों ? ड्राइवरी कोई ठट्ठा है। बी० ए० पास करने से ड्राइवरी मुश्किल है।....

मोहनसिंह ने मेरे मुँह की तरफ़ समर्थन प्राप्त करने के लिये देखा। मैं बोली—यह तो है ही, मुझे तो मोटर पर बैठे-बैठे यही लगता रहता है कि अब गाड़ी लड़ी, अब लड़ी, पर क्या सफ़ाई होती है इन ड्राइवरों के हाथ की कि बस पल में सब पार है।

—जी हाँ, एक दिन किसी मेले में आप चलें तो दिखाऊँ ड्राइवरी किसे कहते हैं। स्पीड में ड्राइवर का कलेजा मालूम होता

है, पर भीड़ में ही उसका हुनर देखा जा सकता है। ड्राइवर ऐसा होना चाहिये कि सवार का तो उस पर पूरा भरोसा हो और सामने से आनेवाला राहगीर डरे कि अब दबे अब दबे। ये राहगीर सुअर के बच्चे माफ़ कीजिये ऐसे पाजी होते हैं कि जान-बूझकर मोटर की राह में आ जाते हैं कि ग़रज़ पड़े तो ड्राइवर बचावे। और मैं इनको यह दिखाता रहता हूँ कि मुझे ड्राइव करना नहीं आता। पास आये कि दबे, सवार बैठे-बैठे कुछ नहीं जान पाता। पर यहाँ तो पल-पल में शतरंज की चालें होती रहती हैं। हर वक्त इन राहगीरों को किश्त ही दिये रहता हूँ। अपनी तरफ़ से यही दिखाता रहता हूँ कि बचो या मरो मेरी बला से। अगर राहगीर ने यह ताड़ लिया कि जो मोटर आ रही है उसका ड्राइवर उसे बचा लेगा तो वह जरूर बीच में ही कूदेगा, नहीं तो बचकर जायेगा। इनकी जात ही कुछ ख़राब होती है……

मैंने देखा कि बात बढ़ती ही जा रही है। मुझे मोटर चलाने की कला पर न तो कुछ सुनने की इच्छा थी, न जानने की। मैंने जल्दी में कहा—पर स्पीड में और ही मज़े हैं।

—हाँ, मजा जरूर है, पर ड्राइवर की परख स्पीड में नहीं, धीरे चलने में है। सभी अनाड़ी तो स्पीड में गाड़ी को ले जा सकते हैं—मोहनसिंह ने मेरे मुँह की तरफ़ ऐसे देखा मानो उसे मेरे अज्ञान पर दया आ रही हो।

मैंने कहा—युनिवर्सिटी जाने में तो खैर आप कुछ स्पीड कर पाते होंगे, पर जैसे रोज़ शाम को इन्दिरा को ले जाते हैं...

—हाँ, उसीमें तो असली परख होती है। चौक से होते हुए चलना पड़ता है, बड़ी भीड़ रहती है।

—चौक से होते हुए कहाँ! किसी बाग़ में?

—नहीं, बाग में क्यों, न मालूम कांग्रेस का या काहे का दफ़्तर है उसीमें जाती हैं।

—इन्दिरा रोज़ कांग्रेस के दफ़्तर में जाती हैं?

—हाँ, कई दिन से वहीं जाती हैं। मैं समझ गई कि जहाँ का यह हज़रत ज़िकर कर रहे हैं, वह कांग्रेस का दफ़्तर नहीं, किसान-सभा का दफ़्तर है, फिर भी निस्सन्देह होने के लिये मैंने कहा—वहाँ एक झंडा लगा है, आपने देखा होगा।

—हाँ-हाँ, एक नहीं दो झंडे हैं, एक लाल एक तिरंगा...

बस मैं समझ गई यह किसान-सभा का दफ़्तर है। यहीं कौशिकजी आया-जाया करते हैं तभी इन्दिरा रोज वहाँ जाती है। अवश्य वहाँ कौशिकजी के अलावा और भी नौजवान होते हैं, पर मैं समझ गई कि यह किसके लिये जाते हैं। मोहनसिंह से और कुछ पूछना बेकार था, फिर भी मैं उससे इधर-उधर बात करती रही कि कहीं उसे शक न हो जाय।

उस दिन रात को जब इन्दिरा लौटी तो मैं उसके साथ खाना खाने नहीं गई। घृणा अधिक हो रही थी कि क्रोध, कह नहीं सकती, पर उसके सामने जाना उचित नहीं समझा। मैं अपने क़ाबू में नहीं थी। बीमारी का बहाना बनाकर पड़ रही। मुझे कौशिकजी पर भी बड़ा क्रोध आ रहा था। यह गुड़ से उनस और गुलगुले से परहेजवाली बात मेरी समझ में नहीं आई। गुस्से से मैं इतनी बेक़ाबू हो गई थी कि मैंने एक बार सोचा कि अभी इस मकान से चल दूँ और कौशिकजी को ख़ूब खरी-खोटी सुनाऊँ। पर किसी तरह सँभल गई।

कई दिन इसी उधेड़-बुन में बीता कि क्या करूँ और क्या न करूँ। अगस्त १९४२ आ गया। पत्रों को उठाती, तो उनमें आनेवाले आन्दोलन की बातें भरी रहतीं। न मालूम क्या होने जा रहा था। इन्दिरा इन दिनों कालेज में अक्सर नहीं जाती,

अक्सर पैदल न मालूम कहाँ जाती। मुझमें और उसमें आज-कल बातचीत क़रीब-क़रीब नहीं के बराबर होती। हम लोग खाना भी अलग-अलग खातीं।

अक्सर कौशिकजी का नाम अखबारों में आता। मैं इन खबरों को बड़े चाव से पढ़ती। एक दिन पढ़ा कि एक सभा में इन्दिरा भी बोली है। मुझे बड़ा क्रोध आया। अच्छा, अब मामला यहाँ तक आ गया।

शाम को वह आई, तो मैं बरस पड़ी। मैंने कहा—इन्दिरा यह कैसी बात है, तुम मुझसे सब बातें इतनी छिपाती क्यों हो? यदि तुम सभा में बोलती हो तो मैं तुम्हे खा थोड़े ही जाऊँगी?

इन्दिरा इन दिनों अपने आप में इतनी मग्न थी कि मेरी यह झाड़ सुनकर भी वह क्रोध में नहीं आई। उसने चौंककर मेरी ओर देखा, फिर बोली—अच्छा वह 'लीडर' की खबर से कह रही हो। इसमें बताने की बात ही क्या है। लीडर ने आज छाप दिया। नहीं तो अक्सर बोलती हूँ। और बहिन, तुम यहाँ रहती हो, तुम्हें क्या मालूम? आज तो सारा देश बोल रहा है। न मालूम कितनी स्त्रियाँ बोल रहीं हैं। एक आध की बात छपती है।.......

इस पर मैं क्या कहती? चुप रह गई। नरम होती हुई मैंने कहा—सो तो समझ रही हूँ, पर मुझे अगर कुछ-कुछ बता दिया करो तो कोई हर्ज तो न रहे।

ख़ैर उस दिन बात यहीं तक रही।

९ अगस्त के दुपहर को इन्दिरा अजीब परेशानी की हालत में घर लौटी। बाल बिखरे हुए आँखें रुआसी, हाँफ रही थी। धम्म से आकर मेरे कमरे में एक कुर्सी पर बैठ गई। इन दिनों वह मेरे कमरे के अन्दर नहीं आती थी। दरवाजे से शुष्क शराफत से तबियत पूछकर चल देती थी। इसलिये उसके इस प्रकार

मेरे कमरे में आने पर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ ! उसके चेहरे की तरफ़ देखकर मैं एक अज्ञात भय से सिहर उठी। कहीं सर्दार साहब तो नहीं जाते रहे ? कहीं वे बीमार तो नहीं थे ?

मैंने पूछा—क्या बात है इन्दु, सब खैरियत है न ?

इन्दिरा ने मानो मेरी बात का जवाब देते हुए नहीं, बल्कि अपने से बात कर रही है इस प्रकार बोली—अगर मुझे पाँच मिनट पहले भी ज्ञात होता तो यह अनर्थ कभी न हो पाता...

मेरा कौतूहल और बढ़ गया, मैंने कहा—अरे साफ़-साफ़ कुछ कहोगी भी ? कौन-सा अनर्थ ?

इन्दिरा ने मेरी तरफ़ देखा, फिर बोली—अनर्थ क्या ? घोर अनर्थ ! कौशिकजी गिरफ़्तार हो गये....

—कौशिकजी गिरफ़्तार हो गये ?

—हाँ, अभी गिरफ़्तार हो गये। बम्बई में गान्धीजी वग़ैरह सब गिरफ़्तार हो गये हैं।—फिर एकाएक मेरे मुँह की तरफ़ देखकर रुआसी होकर बोली—क्षमा करना बहिन, मैंने तुमसे बहुत-सी बात छिपाई है... ।

मुझे आश्चर्य नहीं हुआ। मेरा चेहरा कठिन हो गया। मैंने डरते-डरते पूछा—कौन-सी बात ?

इन्दिरा कुछ बोली नहीं। उसने दोनों हाथों से मुँह छिपा लिया, मानो रोने ही वाली हो।

मैंने कहा—कौन-सी बात तुमने मुझसे छिपाई ? मै जानती थी कि तुम कौशिकजी से मिला करती हो ?

उसने अपने चेहरे पर से हाथ हटा लिया, बोली—तुम जानती थी कि मैं उनसे मिला करती हूँ ?

—हाँ...

—किन्तु बात इससे कहीं आगे बढ़ी हुई है, मैंने तुमसे जो बात छिपाई है वह इससे कहीं अधिक गुप्त है।

—वह क्या ?—मैंने प्रश्न तो कर दिया, पर डरी कि कहीं उत्तर ऐसा न हो जिससे मेरे लिये यह विराट जगत एक विराट विष का प्याला न हो जाय।

इन्दिरा ने कहा—मैं उनसे प्रेम करती हूँ।

—फिर एकाएक मुँह पर हाथ रखकर कहा—मैंने तुम्हारे साथ विश्वासघात किया...

—विश्वासघात ? कैसा विश्वासघात ? जब वे मेरे हुए नहीं तो फिर इसमें विश्वासघात क्या है ? मैंने अपने को कहते हुए पाया।

—मुझे ऐसा नहीं करना चाहिये था—इन्दिरा बोली। वह सिसकने लगी।

मुझे इन्दिरा की यह अकारण भावुकता पसन्द नहीं आई। मैंने कहा—क्या नहीं होना चाहिये था।

—यही......वह उसी प्रकार सिसकती रही।

मैंने झिड़ककर कहा—साफ़-साफ़ कहती क्यों नहीं कि क्या हुआ। कुछ समझ में भी तो आवे।

इधर मैं डर रही थी कि न मालूम क्या हुआ। मेरे यौवन का स्वप्न एक कच्चे धागे में लटक रहा था। मुझे बड़ा क्रोध आ रहा था कि यह जल्दी से बताती क्यों नहीं कि क्या हो गया जिससे मैं समझ तो लेती कि मेरी परिस्थिति क्या है। सच्ची बात है, मुझे इन्दिरा की इतनी परवाह नहीं है जितनी मुझे अपनी थी।

बहुत कहने-सुनने के बाद इन्दिरा ने यह बतलाया कि जिस दिन उसने पहले-पहल कौशिकजी को देखा, उसी दिन से वह उनकी ओर खिंच गई। उसने सोचा कि उनके पास जाने का सबसे अच्छा उपाय राजनीति में जाना था, तदनुसार वह खद्दर पहनने लगी और राजनैतिक कामों में हाथ बटाने लगी। फिर उसे राजनीति में स्वयं मज़ा आने लगा। पहले वह किसानों को

आदमी ही नहीं समझती थी, पर उन लोगों के संस्पर्श में आकर उसे पता लगा कि उनमें से प्रत्येक अपने अन्दर एक जगत रखता है। फिर उनकी ग़रीबी ! इस बीच में वह कई बार गाँवों में भी जा चुकी थी। असली बात जिसे मैं जानना चाहती थी, उस सम्बन्ध में इतना पता लगा कि वह ज़रूर कौशिकजी से प्रेम करती थी, पर कौशिकजी को इसका कुछ पता भी नहीं लगा।

अन्तिम बात को जानकर कौशिकजी पर मेरी श्रद्धा बढ़ गई। मैं तो न मालूम क्या-क्या सोच रही थी। इस इन्दिरा ने तो मुझे डरा दिया था। सच्ची बात जानकर तसल्ली हुई। कौशिकजी यदि सामने होते तो पैरों पर गिर पड़ती, कहती—धन्य हो महाशय, धन्य है तुम्हारी तपस्या, यह इन्दिरा कहाँ मरने, तुम्हारा तपोभंग कराने गई थी। इसकी क्या मजाल कि तुम्हें डिगा सके।

मैंने तिरस्कार और घृणा के साथ इन्दिरा की ओर देखा। पर दूसरे ही क्षण जब मैंने यह सोचा कि कौशिकजी की तपस्या न तो मैं ही तुड़ा सकी, न इन्दिरा ही तुड़ा सकी, न शायद आगे कोई तुड़ा सके, तो इन्दिरा के प्रति मेरे मन में करुणा का ही भाव उदय हुआ। यह करुणा आत्म-करुणामात्र थी क्योंकि उसके प्रति करुणाकर मैं अपने प्रति ही करुणा कर रही थी। मुझे इस समय यह प्रतीत हुआ कि इस गति-अवरोध से तो यही अच्छा था कि इन्दिरा ही बाज़ी मार ले जाती। इस प्रकार तो बाज़ी किसी के हाथ भी नहीं रही।

मैंने इसी धारणा की वशवर्ती होकर इन्दिरा से कहा—बहिन तुमको मुझसे पूछ लेना चाहिये था, ऐसे निर्दयी के पास तुम्हें फटकना नहीं चाहिये था।

इन्दिरा रोने लगी। मैंने अपनी कुर्सी खींचकर उसकी कुर्सी से भिड़ा ली। मेरी आँखों में भी आँसू आ गये, और हम दोनों लिपट-लिपटकर रोने लगीं। कौशिकजी जेल में हम दोनों की पहुँच के बाहर पहुँच गये थे, इससे अब हम दोनों जो कि शायद उनके बाहर रहने पर प्रतिद्वन्द्विनी होतीं, अब साथिनी हो गईं। कैसी विचित्र परिस्थिति है।

जब रोना बन्द हुआ तो इन्दिरा ने बताया कि आज शाम को मीटिंग थी, उसमें सभी बातें तय होनेवाली थीं, पर अब कई मुख्य कार्यकर्त्ता गिरफ्तार हो गए, पता नहीं वह सभा होगी या नहीं। इसके बाद फिर तो वह न मालूम कितनी बातें करने लगी। एक-एक करके वह बता गई कि लोग रेल की पटरी उखाड़कर, तार काटकर किस प्रकार सरकार को पक्षाघातग्रस्तकर शक्ति पर कब्जा करने की बात सोचते हैं। ये बातें दूसरी तरह की बातें थीं। क्रान्ति की बातें, समाज-व्यवस्था को बदल देने की बातें, नवयुग-प्रवर्तन की बातें। जनता तैयार है, नेता भले ही तैयार न हों।

सुनते-सुनते मैं आश्चर्य करने लगी कि इन चन्द महीनों में इन्दिरा में कितना परिवर्तन हो गया है। वह केवल कोमल प्रेमिका या साहसी अभिसारिका नहीं, बल्कि देश-प्रेमिका हो चुकी है। वह इस समाज-व्यवस्था की कट्टर दुश्मन हो गई है। उसके हृदय में केवल प्रेम की नन्ही-सी भट्टी नहीं जल रही है, पर उसके अन्दर क्रान्ति की ज्वालामुखी भी भड़क रही है। नहीं यह बात नहीं, उसमें ये दोनों ज्वालायें मिलकर एक दिगन्त-व्यापी विकराल ज्वाला में परिणत हो चुकी थीं।

मुझे ईर्ष्या होने लगी कि मैं इतने दिनों तक कौशिकजी के सान्निध्य में रही, पर मैं तो इस क्रान्तिमयी ज्वाला की अधिकारिणी न हो सकी थी। इन्दिरा को यह देन कहाँ से प्राप्त हुई ? मैं इसमें अपनी ही न्यूनता देखने लगी। मानो इन्हीं बातों पर

रोशिनी डालते हुए इन्दिरा ने एकाएक कहना शुरू किया—मैं उनके सोते के पास केवल एक व्यक्तिवादी प्यास लेकर गई थी, पर मुझे उनके इर्द-गिर्द तथा स्वयं उनमें कुछ ऐसे सोतों का परिचय मिला जिनमें हमें जीवन की उत्तेजना बहुत अधिक ज्ञात हुई। मैं जिस सोते के लालच से गई थी, उसके पास फटक न सकी, पर जो अन्य सोते थे उनका मैंने खूब उपयोग किया। मै समझ गई कि जनता में जो क्रान्ति के सोते फूट रहे हैं, वे किसी को धोखा नहीं दे सकते। उनमें आनन्द या उत्तेजना कम नहीं है। अवश्य मैंने उस पहले सोते की आशा नहीं छोड़ी थी। अभी जो कमजोरी आ गई, उसी के कारण है। पर मैं समझ रही हूँ वे गये तो क्या, उनका काम तो है।

मैंने कहा—कौन-सा काम ?

उसने कहा— वही काम जिसका अभी जिक्र किया। क्रान्ति का काम, यही उनका काम है। फिर कुछ सोचकर जैसे अपने को शुद्ध करती हुई बोली—क्रान्ति उनका काम है, मेरा काम है, सबका काम है। शाम को एक जगह मीटिंग है, चलोगी ?

—मैं ?—आश्चर्य से मैंने कहा।

—हाँ, तुम। क्यों नहीं ? यह तुम्हारा काम भी तो है......

उसकी बातों में जैसे एक मतवालापन था। इन बातों से मेरे अन्दर भी अगस्त का दिव्य ज्वाला भरा सन्देश प्रवेश कर गया। मैंने सोचा सच तो है, मैं भी तो कुछ कर सकती हूँ। इन्दिरा कर सकती है, और मैं नहीं कर सकती ? अवश्य कर सकती हूँ।

मैंने कहा—पर मेरी परिस्थिति कुछ अजीब है, जानती ही हो......

—हाँ, पर यही परिस्थिति अब सब की होगी। अब की बार गिरफ्तार होने का कार्यक्रम नहीं है, महात्माजी ने खुद ऐसा

लिखा है। हम सब छिपकर काम करेंगी। प्लास और तमाम चीजें इकट्ठी हैं, बम भी तैयार होंगे।

मैंने आश्चर्य से कहा—बम ?

—हाँ, हाँ बम। अब की बार कोई चीज़ मना नहीं है। कौशिकजी पकड़ गये, पर दो और नौजवान हैं जो बम बनाना जानते हैं...—इन्दिरा का थोड़ी देर पहले का वह रुँआसा चेहरा अब जोश से तमतमा रहा था। बाद को हमें पता लगा कि यह जोश न गांधीजी से आया, न वर्किङ्ग कमेटी से, न कौशिकजी ऐसे लोगों से, यह जोश जनता से आया था। इन्दिरा के ज़रिये से यह जोश मुझमें भी संक्रामित होने लगा।

इन्दिरा ने मुझे सब कार्यक्रम समझाया। चार हफ़्ते में सब वारा-न्यारा हुआ जाता है इत्यादि।

मैंने कहा—अच्छा, तुम मीटिंग में जाओ, जो काम तय होगा मैं भी उसमें शरीक हूँगी।

यही हुआ।

इन्दिरा मीटिंग में गई। बहुत दिनों बाद पहली बार ऐसा हुआ कि इन्दिरा घर से निकली, और मुझे न क्रोध आया न ईर्ष्या हुई। मैं बहुत इतमीनान से बैठी रही। किस बात से मुझमें यह परिवर्तन हुआ था ? अवश्य ही कौशिकजी की गिरफ़्तारी से ही मुझे यह इतमीनान हासिल हुआ था। तो क्या मैं कौशिकजी की गिरफ़्तारी से प्रसन्न थी ? क्या अजीब बात है !

इन्दिरा कोई रात दस बजे अकेली लौटी। मैं उसकी प्रतीक्षा कर रही थी। वह भी सीधी मेरे कमरे में ही आई। आते ही क्रोध में बोली—ओह, ये नेता कितने पाजी हैं !

मैंने कहा—क्या हुआ इन्दिरा !

—क्या हुआ, ये सब बेईमान हैं।

मैंने कहा—कुछ कहो भी तो, कौन बेईमान है। कैसी बेई-मानी है।

—यही गांधीजी ने तो कह दिया कि इसबार अपने को गिरफ़्तार कराना कार्यक्रम नहीं है, पर ये बेईमान टेलिफोन पर पुलिस को खबर देकर गिरफ़्तार हो गये।

—कौन पुलिस को टेलिफोन देकर गिरफ़्तार हो गया?

कुर्सी में बैठते हुए, यहीं खाना लाने के लिये नौकरानी से कहते हुए इन्दिरा बोली—शहर कांग्रेस कमेटी के सभापति, मंत्री और कई आदमी पुलिस को खबर देकर गिरफ़्तार हो गये।

मैंने कहा—ऐसा करने में उनका क्या उद्देश्य हो सकता है?

—मैं क्या जानूँ? कायर हैं, बस और कोई बात समझ में नहीं आती। पर हम लोगों ने तै किया है, सब काम होंगे। आज रात ही से शुरू है। हम दिखा देंगी कि नेता न होने पर भी हम क्या कर सकती हैं। तुम्हें भी करना पड़ेगा।

नौकरानी खाना दे गई। हम दोनों खाने लगीं। मैंने आज खाना नहीं खाया था। हफ़्तों बाद इस प्रकार हम साथ खा रही थीं। साथ खाते-खाते तथा इन्दिरा की बातें सुनते-सुनते मुझे ऐसा अनुभव हुआ कि हम सब कुछ कर सकती हैं और हम सब कुछ करेंगी। एक अपार आनन्द की अनुभूति से हमें रोमांच-सा हो आया। अब हमें कौशिकजी की याद एक ऐसे कामरेड के रूप में आ रही थी जो दुश्मन से लड़ते-लड़ते गिरफ़्तार हो गया है। प्रेम कम नहीं हुआ, पर उसकी धारा चौड़ी हो गई। व्यक्ति के कटघरे से निकलकर अब यह प्रेम एक विराट आकार में फैल गया। इन्दिरा ने मीटिंग के जिन साथियों के सम्बंध में सुनाया, उनके सब के प्रति मैं उसी प्रकार के प्रेम का अनुभव करने लगी जैसा कौशिकजी के प्रति करती थी। सभी उन्हीं के रूप ज्ञात होने लगे।

मैंने क्रान्ति के इस जनस्रोत में अपने को खो दिया। इन्दिरा ने भी ऐसा ही किया।

× × ×

काम शुरू हो गया।

क्या काम हुआ इसके ब्यौरे में जाने की जरूरत नहीं। सभी जानते हैं १६४२ की क्रान्ति में क्या हुआ। बाद को यह तर्क उठा कि इन कामों में से कितने उचित थे, कितने अनुचित, कितने अहिंसा के दायरे में आते थे, कितने उससे वर्जित थे। पर खैरियत यह हुई थी कि उन दिनों इस प्रकार से तर्कवितर्क करने-वाला कोई नहीं था। शायद ऐसे सब लोग जो इस प्रकार का त उठा सकते थे, वे टेलिफोन से पुलिस बुलाकर गिरफ्तार हो गये थे, या जनता का रुख देखकर हमारे साथ हो गये थे। उन दिनों तर्क करने का अवसर कहाँ था। हम सब यही सोचते थे कि हफ्ते दो हफ्ते में वारा-न्यारा हुआ जाता है। ऐसे समय में गांधीवाद और समाजवाद का तर्क करने की किसे फ़ुरसत थी। जो उन दिनों काम कर रहे थे वे न तो गांधीवादी थे न लेनिनवादी, वे व्यवहारवादी थे। जैसी जरूरत पड़ती वैसा ही हम लोग करते थे। जरूरत के तकाजे के अनुसार संग्राम की धारा तय होती थी। और जरूरत क्या है उसको जनता तय करती थी। जनता के पीछे हम जैसे तैसे घसलते हुए चलते थे। जनता ने सम्पूर्ण रूप से इतिहास निर्माण की बागडोर अपने हाथों में ले ली थी। वह एक अजीब जमाना था। एक-एक पल में लोग एक युग जीते थे, मरने को लोग कुछ समझते ही नहीं थे। सच बात तो यह है कि मृत्यु को भी लोग जीवन का निर्माता समझने लगे थे। उन दिनों जीवित रहना ही परम सौभाग्य था, और फिर उसमें अपने को सम्पूर्ण रूप से उड़ेलकर काम करना यह तो सौभाग्य की पराकाष्ठा थी।

इस अन्दोलन में हम स्त्रियों की बहुत जरूरत थी। एक क्रान्ति में बच्चों से लेकर बुड्ढे तक सभी खप सकते हैं, और सभी कुछ न कुछ कर सकते हैं और हुआ भी ऐसे ही। दुधमुँहे बच्चों ने भी काम किया। वे भी अपने ढंग से महात्मा गांधी की जय और वन्देमातरम् कहते, और जुलूस निकालते। हमको देखकर ये सीखते, और इनको देखकर हमें उत्साह होता। इस प्रकार चक्रवृद्धि रूप से उत्साह बढ़ता गया। क्रान्ति की लपटें आकाश तक ऊँची होकर जलने लगीं। मालूम हुआ कि इस आँच में हमारी गुलामी की ग्लानि जल जायगी।

पर संगठित दमन के विरुद्ध यह असंगठित तथा करीब-करीब स्वत: स्फूर्त क्रान्ति कब तक चलती। इसकी शक्ति घटने लगी। हम लोगों ने बहुत कोशिश की, कहीं-कहीं आग खूब जोर से फिर भड़क उठी पर भीतर से उसका तेल खतम हो रहा था। क्या किया जाता। एक सुसंगठित दल ही वह काम सँभाल सकता था। कांग्रेस वह दल नहीं था। दूसरे वामपक्षी दल भी अधिकांश रूप में निकम्मे ही साबित हुए। ये सब खुले दल थे। इनके कुछ चुने हुए लोग तो महायुद्ध के प्रारंभ में ही घर बैठे गिरफ्तार कर लिये गए थे। बाक़ी लोग भी अगस्त की दस तारीख तक गिरफ्तार हो गये। इनके पास कोई गुप्त संगठन नहीं था। नतीजा यह हुआ कि कांग्रेस की तरह इनका भी अस्तित्व खतम हो गया। हाँ, इनके कुछ व्यक्तियों ने अच्छा काम किया, सो कट्टर दक्षिणपंथियों ने भी बहुत अच्छा काम किया, इसमें वामपक्षी नामधारियों की कोई विशेष बहादुरी मैं नहीं पाती। फिर एक बात और देखी कि ये वामपक्षी या समाजवादीगण जो हमेशा से हिंसा-अहिंसा पर लम्बी बहसें करते आये थे, इस मौक़े पर जब कि खुल खेलने का मौक़ा आया, देखा गया कि केवल जबानी हिंसा ही कर सकते हैं। कुछ ने कुछ

उत्तेजक पैम्फलेट लिखे, इनसे शायद कुछ लाभ हुआ, पर इस समय केवल अच्छे पैम्फलेटियरों की नहीं, व्यावहारिक क्रान्तिकारियों की जरूरत थी। सो कहीं नहीं थे। हाँ, कुछ पुराने आतंकवादियों ने या उनके इर्द गिर्दवालों ने कुछ काम किया, पर इनमें से भी कुछ सुनती हूँ डकैतियों में बहक गये, और यह भी सुनती हूँ कि इनमें से कुछ पैसा मारकर बैठ गये।

जो कुछ भी हो, इतना तो सत्य है कि इस क्रान्ति के लिये कोई तैयार नहीं था, न दक्षिणपंथी न वामपंथी। फिर भी जो हुआ सो हुआ।

मुझे इस क्रान्ति के दौरान में कई सेन्टरों में भेजा गया। मैं कभी पैम्फलेट लेकर चलती, तो कभी प्लास आदि तरह-तरह के औजार। एक रेडियो भी था, उसमें भी मैंने काम किया।

इन्दिरा अपने घर से नहीं हटी। लोगों ने कहा वह अपने घर पर अधिक काम दे सकती है। ठीक भी था। उसके यहाँ लोग ठहरते, खाते, पीते, जो चाहे सो छिपा जाते। हवेली के एक कमरे में एक प्रेस भी चलता था। इन्दिरा की मोटर दिन रात जब भी जरूरत होती दौड़ती। मोहनसिंह खुशी से सब काम करता।

अन्दोलन धीमा पड़ गया और गांधीजी के अनशन में प्रकाशित पत्रों ने तो उसका नैतिक बल भी छीन लिया। इन्हीं दिनों मैंने सुना इन्दिरा सख्त बीमार है, इसलिए मैं अपने सेन्टर से छुट्टी लेकर इन्दिरा के यहाँ लौट आई। देखा तो इन्दिरा बहुत बीमार थी, और पहले से बहुत दुबली हो गई थी। उसकी आँखें धँसी हुई थीं। आँखों के नीचे बहुत नीचे तक काले दाग थे।

मुझे देखकर उसकी आँखें चमक उठीं। पर एक मुहूर्त के लिये। फिर वे बुझ गईं। बोली—आओ तारा।

मैंने हँसकर कहा—तारा नहीं, उर्मिला—पर उसके चेहरे के बुझे हुए भाव को देखकर मेरी हँसी फीकी पड़ गई ।

मैंने उसके सिर और मुँह पर हाथ फेरा। फिर मैंने आग्रह से पुकारा—इन्दु !

उसने मेरे हाथ को हाथ में लेते हुए धीरे से कहा—तुम आ गईं अच्छा हुआ, अब मैं शान्ति से मर सकूँगी।

मरने का नाम सुनकर मैं भौंचक्की रह गई। मैंने झिड़ककर कहा—तुझको क्या हो गया है जो तू मरेगी ? मरना कोई हँसी-ठट्ठा है ? तेरा इलाज हो रहा है ?

—हाँ, हो रहा है। मेजर फारेस्टर इलाज कर रहे हैं।

मैंने पूछा—सर्दार साहब को खबर नहीं दी ? वे नहीं आये ?

—आये थे। इलाज का बन्दोबस्त कर चले गये......

—चले गये ! क्यों ?

—सो बहुत-सी बातें हैं ?—इन्दिरा के चेहरे पर परेशानी की कई कठिन रेखायें दिखाई पड़ीं ।

बहुत-सी बातें यह थी कि सर्दार साहब की उम्र पचास के इर्दगिर्द होने पर भी और बीस वर्ष के लगभग ब्रह्मचारी रहने पर भी एकाएक रसिक हो गये थे। अभी हाल में वे रियासत की एक पारसी मिस्ट्रेस के प्रेम में फँस गये थे, और दिन-रात उसी में डूबे रहते थे।

सब कुछ सुनकर मैं उदास हो गई। मैंने कहा—पर इन्दु, घबड़ाओ मत। मैं तुम्हारी तीमारदारी करूँगी, तुम अच्छी हो जाओगी।

—पर तारा, मैं अच्छी होना नहीं चाहती, मैं मरना चाहती हूँ।

—क्या बात है जो तू मरना चाहती है ? सर्दार साहब के कारण ?

—नहीं, उससे मुझे जरा भी दु:ख नहीं हुआ, मुझे उसमें दु:ख की कोई बात नहीं मालूम पड़ती। यह तो स्वाभाविक है...

—तू बात तो बड़ी समझदार की तरह करती है, पर अपने ही बारे में क्यों इतनी बेवकूफ हो जाती है? तुझे हो क्या गया है जो तू जीना नहीं चाहती?

—हो गया है?—जिद के साथ इन्दिरा ने कहा।

—क्या हो गया? डाक्टर ने क्या कहा?

—डाक्टर की बात नहीं, और बात है। अत्यन्त रहस्यमय रूप से इन्दिरा ने कहा।

मैं अजीब परेशानी में पड़ गई। इन सात-आठ महीनों में कौन-सी ऐसी बात हो गई? जिससे इसे जीना ही दूभर हो गया।

मैंने कुछ चिढ़कर कहा—इन्दु, यह तुम्हारी आदत हमें अच्छी नहीं लगती। खोलकर कहो कि क्या हुआ है। मैं तो ऐसी किसी बात की कल्पना नहीं कर पाती जिससे तुम्हारा जीना दूभर हो सके...

मैंने ऐसा आलंकारिक ढंग से नहीं कहा, बल्कि सचमुच मैं कुछ सोच नहीं पाई, तभी कहा।

इन्दिरा ने कहा—कारण है, बताऊँगी, पर अभी नहीं। तुम अच्छी तरह ठीक हो जाओ, फिर बताऊँगी।

मैंने जिद की कि नहीं अभी बताओ, पर उसने नहीं बताया। मुझे दु:ख हुआ, पर इससे भी अधिक हुआ आश्चर्य। इसने यह दृढ़ता कहाँ से पाई? क्या यह अगस्त दिवसों की देन थी।

मैं विवश थी। मेरी परेशानी बढ़ गई, पर मुझे दूसरे कामों में लगना पड़ा।

शाम को मेजर फ़ारेस्टर आये, मालूम हुआ कि वे रोज आते थे। सर्दार साहब ऐसी ही व्यवस्था कर गये थे। मेजर साहब

नौवजवान डाक्टर थे। किसी बीमारी के कारण लड़ाई से वापस किये जाने पर यहाँ की सिविलसार्जनी पर तैनात थे।

जब मेजर जाने लगे तो मैंने रोगिणी के कमरे से बाहर आकर मेजर को रोककर पूछा—क्या रोग है ? कुछ उम्मीद है ?

मेजर ने मुझे सन्दिग्ध नेत्रों से देखा, फिर बोले—आप कौन हैं ? रोगिणी की बहन ?

—नहीं, मैं उनकी बचपन की सखी हूँ, रोग की ख़बर सुनकर आई हूँ।

—अच्छा ! रोगिणी की तबियत बहलाने की कोशिश कीजिये। रोग कोई ख़ास नहीं है, पर depression बहुत है। इतना depression बराबर रहा तो हम कुछ नहीं कर सकेंगे। हम डाक्टर लोग ख़ुदा नहीं हैं, जहाँ will to live जीने की इच्छा का अभाव है, वहाँ हमारी दवायें क्या कर सकती हैं। ऐसी ग्रन्थियों के कारण होते हैं जिनको अभी चिकित्साशास्त्र अच्छी तरह जान नहीं पाये। —कहकर मेजर ने घड़ी देखी और चले गये।

इस प्रकार कई दिन गुज़रे। मुझे ऐसा मालूम दिया इन्दिरा की हालत बदतर होती जा रही थी।

इन्दिरा ने अब तक कुछ भी नहीं बताया था। मैंने भी इस बीच में इधर-उधर जाँच-पड़ताल की थी पर कुछ पता नहीं लगा पाई।

मैं अक्सर उसकी शय्या के पास बैठी रहती थी। पुराने दिनों की बात होती जब हम सहपाठिनी थीं। बात क्या होती थी मैं ही बोलती और वह सुनती थी। कभी-कभी दो एक बात कह देती थी।

कौशिकजी की बात छिड़ती, पर पता ही नहीं था वे कहाँ हैं। कोई कहता वे दिल्ली के लाल क़िले में हैं, कोई कहता लाहौर के लाल क़िले में हैं। यह भी खबर थी कि औरों

के साथ उनको बरफ़ की सिल्ली पर बैठाया गया था, मारा पीटा गया था, कई-कई रात सोने नहीं दिया गया था। सच बात तो यह है कि जब से गिरफ्तार हुए थे उनका कुछ पता ही नहीं मिला था। न कोई चिट्ठी आई थी न कोई सन्देशा।

एक दिन मैं कौशिकजी की बात कह रही थी। एकाएक इन्दिरा ने कहा—ऐसा भी तो हो सकता है कि कौशिकजी को मार डाला हो...

मैं खुद सन्देह करती थी, पर इन्दिरा की हालत को देखकर मैंने कहा—ऐसा नहीं हो सकता।

इन्दिरा तैश में आगई, बोली—क्यों नहीं हो सकता? आपने इन आठ महीने में सब कुछ देखा, पर अब भी आपको इस सरकार पर कुछ विश्वास है।—कहकर उसने मुँह बिचका लिया।

मैंने योंही कहने के लिये कहा—मैं तो no news is good news किसी ख़बर का न मिलना अच्छी ख़बर है, इस उसूल पर चलना उचित समझती हूँ।

इन्दिरा नरम पड़ गई—ठीक है, साधारण समय के लिये यही ठीक बात है, पर इस असाधारण अवस्था में जो न हो जाय वही थोड़ा है...

इस पर मैं क्या कहती? मैं कोई सरकार की वकील तो थी नहीं।

उस दिन सन्ध्या के पहले से यही विषय छिड़ा रहा। कई और राजनीतिक बन्दियों की बातें हुईं। मैं जान-बूझकर बात कर रही थी और वह सुन रही थी।

बात सुनते-सुनते वह एकाएक तकिया के सहारे बैठने की कोशिश करने लगी। जब वह बैठने में सफल नहीं हुई, तब मैंने उसे मदद देकर बैठा दिया।

अच्छी तरह तकिये के सहारे बैठकर उसने क्षीण स्वर में

बिना भूमिका बाँधे ही कहा—जो अपनी शक्ति से परे किसी काम को उठाता है उसका यही हाल होता है, जैसे मेरा हो रहा है....

इतना कहकर वह कमरे के बड़े जँगले से बाहर उस जगह ताकने लगी जहाँ कुछ चिड़ियाँ दल बाँधकर सन्ध्या समय घर लौट रही थीं। हवा में एक तरह की व्याकुल स्तब्धता थी। आकाश में कहीं भी एक इंच भर बादल नहीं था। पर इन घर लौटती हुई चिड़ियों के परों की तरह वातावरण में—सारे वातावरण में एक थकावट का बोझ था।

मैंने इन्दिरा की बात सुन ली, पर उसका कोई मतलब समझ में नहीं आया। फिर जो बात उसने कही थी उसमें विरोध क्या हो सकता था, पर वह कौन से काम की बात कर रही थी? क्या ऐसा काम था जिसे उसने उठाया था, और जो उसकी शक्ति के बाहर था?

पूछना नहीं पड़ा। उसने स्वयं ही कहना शुरू किया—देखो उर्मिला मैंने किसी को नहीं बताया, बहुत दिनों तक मैंने शायद स्वयं भी नहीं जाना कि मैंने इन सारे क्रान्तिकारी कामों में क्यों हाथ डाला?

—क्यों?—मैंने पूछा।

—केवल एक कारण से, वह यह कि मैं कौशिकजी के प्रेम में पड़ गई थी। मैं उनका सान्निध्य चाहती थी। देशभक्ति और क्रान्ति सब फरेब था। मैं अपने को नहीं समझ पाई थी।...

उसके स्वर में आत्म-ग्लानि थी। मैंने कहा इसमें इतनी खराब बात क्या है? आखिर कोई स्त्री किसी पुरुष से प्रेम करेगी उसमें दोष की क्या बात है। रही देशभक्ति और क्रान्ति, सो जैसा कि तुम स्वयं जानती हो देशभक्ति और क्रान्ति में भिन्न-भिन्न व्यक्ति भिन्न विभिन्न उद्देश्य को लेकर आते हैं। इससे क्रान्ति का कुछ

नुक़सान नहीं होता। सामाजिक शक्तियाँ सबसे भिन्न-भिन्न मिस से काम करवाकर अपने को आगे बढ़ाती हैं।

इन्दिरा हँसी, एक अजीब उदास हँसी थी। उतरते हुए अंधकार में उस हँसी को सुनकर एक प्रकार के भय की अनुभूति हुई। इन्दिरा बोली—ठीक है, एक साल बाद भी तुम कौशिकजी के शब्दों में ही बात कर रही हो। हो सकता है तुम जो कह रही हो वह ठीक है, पर उसका एक दूसरा पहलू भी है। मेरी तरह जो लोग क्रान्ति में अपने निजी उद्देश्य से आते हैं, जब क्रान्ति असफल हो जाती है, और उनको अपना उद्देश्य प्राप्त नहीं होता, तो उनके मन में प्रतिक्रिया होती है। मुझे अब क्रान्ति से कोई मतलब नहीं। क्रान्ति मेरे लिये उनको पाने का एक तरीक़ा मात्र था। जब तक वे थे, क्रांति की तैयारी मेरे लिये उनके पास जाने का साधन था, जब वे पकड़ गये, तो क्रांति उनको छुड़ाने का साधन ज्ञात हुआ। तुम्हें मालूम है बहिन कि उनकी गिरफ्तारी के बाद ही मैंने विशेष रूप से उनको जेल से भगाने की तैयारी की थी। सब ठीक था, डिस्ट्रिक्ट जेल में दो वार्डर मिला लिये गये थे, पर जिस रात को वे भागनेवाले थे उसी दिन उनका चालान हो गया...

पुलिस को पता लग गया होगा?

पगली की तरह हँसकर वह बोली—नहीं, नहीं, किसी को कुछ पता नहीं चला था, महज़ आकस्मिक बात? क्या अजीब बात है, हमेशा आकस्मिक बातें भी इसी सरकार के पक्ष में जाती हैं।...

इन्दिरा की बातों में कड़वापन कूट-कूटकर भरा था। मानो एक अदृश्य भाग्य सब घटनाओं को ऐसे घटित कर रहा हो जो बिलकुल प्रतिकूल बैठे। मैं सिहर उठी। इतना कड़वापन! अब मैं समझ गई कौन से विचार उसे भीतर से खोखला किये दे रहे हैं।

मैंने कहा—तुम समझती होगी कि तुमने उनको भगाने का जो प्रयत्न किया, वह तुम्हारी स्वार्थचेष्टा से उद्भूत था। पर नहीं। वह एक क्रान्तिकारी कार्य था। तुम चाहे जिस उद्देश्य से छुड़ाती, पर वे छूटकर तुम्हारे आँचल से बँध तो जाते नहीं। वे क्रान्तिकारी कार्यों में फिर जुट जाते। अतएव तुम्हारा कार्य क्रान्तिकारी ही था।

मैंने उसे बहुत तरीके से समझाया, पर वह समझी नहीं। वह अपना ही गाती रही।

अन्त में उसने कहा—अब भी मैं बच सकती हूँ अगर वे आ जायँ, पर यह आशा दुराशा मात्र है। वह रुक गई, फिर बोली—एक पत्र ही आ जाता।...

मैं समझ गई कि यह रोग असाध्य है। मेरी परिस्थिति अजीब थी। जिस व्यक्ति के प्रेम में निराश होकर मैंने घर छोड़ा, एक तरह से संसार छोड़ा, यहाँ पर मेरे सामने एक युवती उसी व्यक्ति के प्रति अनापसनाप प्रेमनिवेदन कर रही है। और मुझे ज़रा भी ईर्ष्या नहीं हो रही थी। बल्कि इन्दिरा के प्रति मन में एक तरह की सहानुभूति का उदय हो रहा था। जगत में कैसी-कैसी अजीब परिस्थिति होती है।

उस रात को इन्दिरा की हालत एकाएक बहुत ख़राब हो गई। इसके बाद वह तीन दिन तक बेहोश रही। फिर मर गई। सर्दार साहब तार पाकर आ गये। मैं इतना रोने लगी कि सर्दार साहब अपना शोक भूलकर मुझे तसल्ली देने लगे।

उस घटना के बाद बहुत दिन बीत गये हैं, पर आज भी मैं यह तय नहीं कर पाई हूँ कि इन्दिरा को क्या कहा जायगा, प्रेम की शहीद या क्रांति की शहीद!

× × ×

सर्दार साहब रीवाँ वापस चले गये, और मैं फिर काम के एक सेण्टर में लौट गई। अभी भी कुछ अलमस्त क्रांति का अलख जगाये हुए पड़े थे। मैं भी इन लोगों में शामिल हो गई।

क्रांति की कमर तो पहले ही टूट चुकी थी, पर इन अलमस्तों को इससे क्या था, आखिर इस राक्षसी पद्धति से लड़ना तो था ही। हम लोग लड़ते गये। पर क्रांति कोई चूल्हा तो है नहीं कि मुँह से फूँककर उसकी आग को फिर जलाया जा सके। क्रांति तो एक दिशाओं तक प्रसारित अग्नि की प्रचंड तांडव लीला है, उसको केवल प्रज्वलित जनता ही कर सकती है। कोई गुट उसके एक आध कोयले को भले ही कुछ सुलगा ले, कहीं-कहीं भले ही यह सुलगाना अग्निकांड का रूप धारण करे, पर क्रांति नहीं हो सकती।

फिर अब गांधीजी के पत्रों के प्रकाशन के बाद हम लोगों में जो एकमत था, वह धीरे-धीरे नष्ट हो रहा था। लोगों के मन में सन्देह का उदय हो चुका था। कुछ लोग घबड़ा रहे थे कि कहीं ऐसा न हो कि इन दस महीनों में उन्होंने जो कुछ किया उसके कारण उन पर दो तरफा मार न पड़े। सरकार तो मारेगी ही, कहीं कांग्रेस से निकाले जाने की नौबत न आवे। ये लोग धीरे-धीरे खिसकने लगे। केवल खिसके ही नहीं जाकर गिरफ्तार होने लगे। पता नहीं जान-बूझकर गिरफ्तार हो रहे थे या और कुछ।

पर फिर भी हम लोगों ने काम जारी रक्खा। मेरी तो परिस्थिति साफ़ थी। मैं इसके अलावा और कुछ कर ही नहीं सकती थी। पता नहीं औरों की भी यही परिस्थिति थी या नहीं।

पर्चे निकलने लगे और सब काम होने लगे। पर वह उत्साह नहीं था। न मुझ में, न औरों में। फिर भी यन्त्रवत सब काम होते गये।

डाक्टर प्रेमनाथ (२)

सोर्बोन विश्वविद्यालय से डाक्टर की उपाधि मिली ही थी कि १६३६ का महायुद्ध छिड़ गया। पिताजी ने तार दिया लौट आओ। मुझे बड़ा बुरा मालूम दिया कि वाह, आठ साल से जिस फ्रान्स का अन्नपानी खा रहा हूँ (अवश्य रुपये पिताजी भेजते थे), जहाँ विद्या सीखी, जहाँ की भाषा मेरे लिये अब मातृभाषा से कुछ कम नहीं थी, उस देश पर विपत्ति आते ही मैं दुम दबाकर चल दूँ। यह कैसे हो सकता था। मैंने पिताजी को तार दे दिया अभी मैं नहीं आ सकता।

नात्सी जर्मनी ने पोलैंड को देखते-देखते हड़प लिया। फ्रांस के घर-घर में युद्ध की पूरी तैयारी होने लगी।

सोर्बोन के बहुत से ऐसे छात्र जिनको मैं पुस्तकालय और व्याख्यानगृह से बाहर नहीं देखता था, उन्होंने भी बात की बात में पुस्तकें छोड़ दीं और देश-रक्षार्थ सैनिक हो गये। चारों तरफ़ La patrie en danger देश खतरे में है की आवाज बुलन्द हो रही थी। वह एक अजीब जोश था। सोर्बोन में जर्मन छात्र भी थे, वे तो युद्ध के पहले सप्ताह में ही चले गये थे। सब विदेशी धड़ाधड़ अपने-अपने देश की रक्षा के लिये विश्वविद्यालय छोड़कर चल दिये।

मैं ? मेरे मन में भी इच्छा हुई कि मैं भी अपने देश के लिये कुछ करूँ पर मेरा तो कोई पात्रि या देश था ही नहीं। मेरा देश तो गुलाम था। मैं कहाँ जाता, मैं सोर्बोन में ही पड़ा रहा। बहुत से भारतीय चले आये, पर मैं नहीं आया। हाँ सुन्दरम नामक एक मित्र के हाथ मैंने अपना छोटा-सा पुस्तकालय भेज दिया।

एक महीने बाद पिताजी का लम्बा तार आया—तुम्हारी

माता मृत्युशय्या पर, यदि अन्तिम समय में देखना चाहते हो, तो तुरन्त चले आओ। हवाई जहाज़ से आना, बाक़ी सामान आता रहेगा।

पहले तो शंका हुई कि कहीं पिताजी ने कुछ चालाकी से काम तो नहीं लिया, पर यह शंका फ़जूल थी। आज तक मेरे देवतुल्य पिताजी ने मेरे साथ कभी कोई ऐसी बात नहीं की। मुझे अपने ऊपर शर्म आई।

मैं देश में लौट आया। माताजी सचमुच बीमार थीं, और बहुत अधिक बीमार थीं। दिन-रात उन्हीं की तीमारदारी में जुटा रहा। छै महीनेके इलाज के बाद वह रोटी-पानी खाने लायक़ हुई। खैर छुट्टी मिली।

इस समय तक यूरोप में घमासान छिड़ चुका था।

भारतवर्ष में भी कांग्रेस ने मन्त्रिमंडल त्याग दिये थे। लड़ाई की तैयारी थी। पर न मालूम क्यों मेरी रुचि इस तरफ़ नहीं हुई।

फ्रांस में रहते समय मैंने फ्रेंच भाषा में गांधीजी के विषय में बहुत से लेख लिखे थे, पर न मालूम क्यों मुझे यहाँ आने पर संग्राम के जो तरीक़े दिखाई दिये, वे पसन्द नहीं आये। चीज़ें कुछ वास्तविकता से दूर-सी ज्ञात हुईं।

मैंने यूरोप में रहते समय विभिन्न शक्तियों की लड़ाई सम्बन्धी तैयारी देखी थी। मुझे इसके विरुद्ध गांधीजी के उपाय नितान्त हास्यास्पद ज्ञात हुए। अवश्य पोलैंड की हार से कुछ लोगों ने आत्मिक तैयारी की व्यर्थता का तर्क निकाला था, पर इसके कारण किसी शक्ति ने आत्मिक तैयारी कम नहीं की, बल्कि उस तैयारी को और बढ़ाया ही। अन्त में हिटलर-मुसोलिनी-तोजो के त्रिगुट को किसी गांधी ने नहीं बल्कि इङ्गलैंड-अमेरिका की सम्मिलित आत्मिक शक्ति ने ही हराया। अस्तु।

१९४० के जून में जब फ्रांस का पतन हुआ, तो मुझे इतना दुःख हुआ मानो मेरे ही ऊपर कोई भयंकर विपत्ति आई। सोचा कि अब मुझे भी कुछ करना चाहिये, पर क्या करूँ यह समझ में नहीं आया। एक बार सोचा ब्रिटिश फौज में ही भर्ती हो जाऊँ क्योंकि लड़ना तो नात्सी जर्मनी के विरुद्ध है चाहे यहाँ से लड़ूँ या वहाँ से।

पर जीवन की चीजें सरल रेखा में नहीं चला करतीं। चलतीं तो अच्छा होता, पर चलती नहीं। इधर फौज में भर्ती होने की इच्छा हुई, पर उधर देखा न एक भाई न एक पाई का नारा लग रहा था। नतीजा यह हुआ कि मैं भीषण कर्त्तव्य संकट में पड़ गया। और जैसा कि ऐसे समय में होता है मैं न इधर गया न उधर गया।

मैं भारतीय अखबारों में यूरोप के विषय में लिखता रहा। अजीब उधेड़बुन में पड़ा रहा।

१९४१ में जब रूस पर जर्मनी का आक्रमण हुआ तब भी मैं अजीब डाँवाडोल में पड़ गया। फिर सोचा कि फौज में भर्ती हो जाऊँ! बात यह है कि रूस मेरी आँखों में सारी प्रगति का प्रतीक था। रूस पर हमला मेरे लिये मानवता के सब मूल्यों पर हमला था।

मैंने निश्चय कर लिया कि मैं फौज में भर्ती हो जाऊँगा। इशारे से मैंने पिताजी से जिक्र कर दिया। स्मरण रहे अभी तक भारत की कम्यूनिस्ट पार्टी साम्राज्यवादी युद्ध का नारा देती जा रही थी। उन्हें तो ब्रिटेन की पार्टी के जरिये हुक्मनामे का इन्तजार था, पर यहाँ क्या था? यहाँ तो अपनी आत्मा से पूछना भर था।

मैं सबेरा होने पर छावनी के लिये रवाना हुआ। पर रास्ते में खबर मालूम हुई कि एक सभा होनेवाली है, और उसमें

बोलनेवालों में बाहर के एक प्रसिद्ध कांग्रेसी हैं जो अभी जेल काटकर छूटे हैं। यह भी मालूम हुआ कि यह महाशय युद्ध के सम्बन्ध में कांग्रेस के रुख का स्पष्टीकरण करेंगे। वर का टाँगा था। मैंने टाँगेवान से कहा, चलो लौट चलें। घर लौट गये।

शाम को सभास्थल पर गये तो अफ़वाह उड़ रही थी कि शायद पुलिस सभा करने न दे। जनता में यह अफ़वाह फैली हुई थी। इसलिये अपार भीड़ थी। नरमुण्डों का समुद्र उमड़ रहा था। पुलिस भी चारों तरफ़ थी।

खैर सभा की कार्रवाई शुरू हो गई। उस दिन के वक्ता महोदय बोलने उठे। वे दो ही मिनट बोले होंगे कि पुलिस का एक जत्था भीड़ को चीरता हुआ सभा-मञ्च पर पहुँचा। जत्था के साथ जो दारोग़ा थे, उन्होंने सभापति को एक काग़ज़ दिखाया। सभा में दारोग़ा को इस प्रकार भीड़ चीरते हुए आते देखकर ऐसी खलबली मच गई थी कि वक्ता महोदय चुप हो गये थे।

दारोग़ाजी से काग़ज़ लेकर पढ़ने के बाद सभापतिजी लाउड-स्पीकर के पास आकर बोले कि यह सभा ग़ैरकानूनी क़रार दी गई है, पर उनकी राय है कि अब सभा रोकी नहीं जा सकती, वह तो होगी ही।

जनता ने ताली पीटकर इस फ़ैसले का स्वागत किया।

वक्ता फिर बोलने लगे।

दारोग़ा ने अपार जनता की तरफ़ देखा और फिर कुछ सोचा। शायद उसने यह सोचा कि सभापति तथा वक्ता को इस अवस्था में गिरफ़्तार किया जा सकता है या नहीं? उसने शायद सोचा ऐसा करना खतरे से खाली न होगा, विशेषकर एक उसी के पास रिवालवर था, बाक़ी सब सिपाही निरस्त्र थे, इसलिये वह लौट गया।

व्याख्यान चलने लगा।

लोगों में ख़ूब जोश था।

कोई पन्द्रह मिनट तक इस प्रकार व्याख्यान चला होगा कि फिर वह दारोग़ा लौटा। अब की बार उसके साथ एक गोरा था तथा बन्दूक़ों से लैस पुलिस का एक जत्था भी था। कुछ घुड़सवार भी थे। जनता ने जो इस गोरे को देखा तो जोश में आ गई और राष्ट्रीय नारे लगाने लगी।

वक्ता बोल रहे थे। पर मेरा ध्यान वक्ता की तरफ़ नहीं था, न उसके व्याख्यान की ओर था। मैं तो पुलिसवालों की तरफ़ देख रहा था। जिसे मैं दारोग़ा समझ रहा था, सम्भव है, वह कोतवाल हो, क्योंकि वह पूरी वर्दी पहने हुए नहीं था, उसने अपने साथ के गोरे से कुछ सलाह की, फिर सभा भंग करने का हुक्म दिया। पर हम लोग टस से मस नहीं हुए।

इसके बाद घटनायें इतनी तेज़ी से घटित हुईं कि उतनी तेज़ी से उनका वर्णन नहीं हो सकता। इसलिये मैं उनके अनुसरण की चेष्टा न कर बाद की घटनाओं को ही लिख रहा हूँ। पाँच मिनट के अन्दर सभा तितर-बितर हो गई। वक्ता, सभापति तथा कुछ और व्यक्ति गिरफ़्तार हो चुके। क़रीब दस आदमियों को गोली लग चुकी थी। कुछ तो मर भी गये थे। मेरे ऊपर से घोड़ा दौड़ चुका था। मैं अंटा-चित्त पड़ा था। संभव है पसली की एक हड्डी टूट गई थी। ऐसे ही सैकड़ों की हालत थी। कुछ घायल लोगों के अतिरिक्त वहाँ कोई नहीं था।

मुझे कोई ऐसी भारी चोट नहीं लगी थी कि मैं उठकर घर तक न जा सकूँ। जा सकता था, पर अजीब उदासीनता मालूम हुई और मैं जहाँ पड़ा था वहीं पड़ा रहा। मेरी पसली शायद उतनी ज़ख़्मी नहीं थी, जितना कि मेरा दिल ज़ख़्मी था। मेरा

शरीर तो ठीक था, उसकी शायद एक पसली टूटी थी, या न भी टूटी हो, पर मेरे आदर्शों और मूल्यों की सारी पसलियाँ टूट चुकी थीं, उनका सम्पूर्ण रूप से हनन हो चुका था। मैंने सोचा हाय ये ही अंग्रेज़ दुनिया में फ़ासिज्म को समाप्त करने पर तुले हैं। आज यह सब जो कुछ हुआ यह फ़ासिज्म नहीं तो क्या था। ऐसे समय में भी मैं साहित्यिक epigrammatic तरीक़े से सोचे बग़ैर नहीं रह सका। मैंने कहा, Fascism is dead, Long live Fascism फ़ासिज्म मर चुका, फ़ासिज्म जिन्दाबाद।

रूस के रक्षार्थ लड़ाई में भर्ती होने की सबेरेवाली बात मेरे मन में आई। इस समय मैं सोच ही नहीं पाया कि किस मानसिक अवस्था में मैंने ऐसी बात सोची थी। ओह् मैं कितना बालबाल एक भयंकर मूर्खता से बच गया। मैंने अपने भाग्य को सराहा कि उसने मुझे बचा दिया।

यदि मैं भावुकता में आकर लड़ाई में भर्ती हो जाता, तो मैं इसी दारोग़ा या कोतवाल तथा उन गोरे की श्रेणी में ही होता जिन लोगों ने सम्पूर्ण रूप से निहत्थे लोगों पर गोलियाँ चलाई थीं तथा शान्त जनता पर घोड़े दौड़ाये थे। क्या इस प्रकार के आचरण से रूस को कुछ फ़ायदा था या हो सकता था? कदापि नहीं, फिर भी ब्रिटेन के साथ इन बातों को अलग कैसे किया जा सकता था। ब्रिटिश साम्राज्यवाद समाजवादी रूस के साथ नाजीवाद के विरुद्ध लड़ रहा था यह एक आकस्मिक घटना थी। आकस्मिक इस अर्थ में नहीं कि यह बात कार्यकारण-शृङ्खला से बाहर थी, बल्कि आकस्मिक इस अर्थ में कि इससे साम्राज्यवाद के रंग-ढंग में कोई परिवर्तन नहीं आया था।

इस प्रकार पसली में घोड़े की टाप से चोट खाकर मैं सोर्बोन का डाक्टर उस बात को समझा जिसे भारत के बच्चे-बच्चे ने महज़

सरल बुद्धि से बहुत पहले ही समझ लिया था। संभव है इस प्रकार साम्राज्यवाद विरोध में बहते-बहते उनके मन का पलड़ा कुछ फ़ासिस्टवादी शक्तियों की ओर झुक गया था, पर उसकी अन्तर्गत वस्तु फासिस्टवादी नहीं थी।

जो कुछ भी हो उस दिन जब मुझे स्ट्रेचर पर घर लाया गया तो मैं बदला हुआ आदमी था।

चोट सख्त थी। एक्स-रे हुआ, क्या-क्या हुआ! अच्छे होते-होते तीन महीने लग गये। कह नहीं सकता ठीक समझ पाया या नहीं, पर मुझे ऐसा मालूम दिया माताजी के अतिरिक्त घर के सभी लोग इस बात से ख़ुश थे कि मुझे यह चोट आई। उनमें से सभी मेरे फ़ौज में भर्ती होने के विरोधी थे। जब मैं कुछ अच्छा हो चला तो पिताजी ने एक दिन बात-बात में कह भी दिया—सब ज्ञान सोर्बोन में नहीं है, कुछ ज्ञान यहाँ की जनता में ऐसे हैं जो दूसरे देशों के दार्शनिकों में भी नहीं हैं।

पिताजी ने बहुत घुमाकर बात कही थी, पर मैं समझ गया। यहाँ इतना बता दिया जाय कि पिताजी भारतीय संस्कृति के परम प्रशंसक थे, और किसी भी मौक़े पर भारतवर्ष की बड़ाई करने में नहीं चूकते थे।

मैंने चुपकर उनकी बात सुन ली। इसे मानने में हर्ज नहीं कि उस दिन से मेरा गर्व बहुत कुछ कम हो गया। शायद बहुत दिनों तक विश्वविद्यालयों की चहारदीवारियों में रहते-रहते मैं जनता से विशेषकर हमारे देश की अशिक्षित जनता से सूक्ष्म रूप से कुछ घृणा करने लग गया था, परन्तु मैंने देखा कि मैं ग़लती पर था। ये लोग चाहे जितने अशिक्षित, लाञ्छित तथा पददलित हों, कौन इनका दुश्मन है इस सम्बन्ध में इनकी सरल बुद्धि बहुत सही और पुख्ता थी। अभी ये अपने दोस्तों को अच्छी तरह नहीं पहचानते थे, पर जल्दी ही पहचानने लगेंगे।

मैं रोगशय्या पर पड़ा-पड़ा यह सब सोचता और मेरे हृदय का कोना-कोना एक अज्ञातपूर्व, अकल्पितपूर्व आशा की द्युति से जगमगा उठता। मेरे देश का उज्ज्वल भविष्य मेरे सामने आ जाता। मैंने यह अनुभव किया कि जब से मेरी पसली में चोट लगी थी, तब से मेरे शरीर और मन में कोई ऐसा परिवर्तन होता जा रहा था जिससे मेरे अन्दर का इंटेलेक्चुअल बोहिमिया धीरे-धीरे उजड़कर उसकी जगह पर एक दूसरे ही जनपद की सृष्टि हो रही थी। मैं एक नया आदमी होता जा रहा था।

वरन् मेरे इस सुख के साथ थोड़ा दुख नहीं उलझा हो, यह बात नहीं। जब मैं अखबारों को पढ़ता और उसमें नाज़ी सामरिक यंत्र के सम्बन्ध में देखता कि वह रूस के बाग़ को रौंदता हुआ आगे बढ़ता चला जा रहा है, तब मुझे घोर मानसिक कष्ट होता। जिन स्थानों का नाम अखबारों में आ रहा था, उनमें से कुछ स्थानों को मैंने अपनी आँख से देखा था। मैंने वहाँ के लोगों को यूरोप के अन्य देशों से अधिक ख़ुशहाल पाया था, यह बात नहीं; पर वहाँ स्काइस्क्रेपर और फूसहीन छप्पर का फ़र्क़ कहीं नहीं पाया था। सबसे बड़ी बात थी, शोषकवर्ग का खातमा कर दिया गया था। सब के चेहरे पर नवनिर्माण का उल्लास था। सब समझते थे कि आज जो कमियाँ थीं, वे कल नहीं रहेंगी, जो कल रहेंगी वे परसों नहीं रहेंगी। इससे भी बड़ी बात यह थी कि सब शान्ति चाहते थे, कोई लड़ाई नहीं चाहता था।

इसी देश पर आक्रमण हो रहा था, यही देश पैरों तले रौंदा जा रहा था। मुझे बड़ा कष्ट होता, पर अब ब्रिटिश फ़ौज में भर्ती होने की इच्छा नहीं होती। उसका तो बिलकुल प्रश्न ही नहीं उठता था। हाँ, मुझे यदि मौक़ा मिलता रूसी फ़ौज में भर्ती होता, पर उसकी तो कोई संभावना नहीं थी।

इस प्रकार इस सम्बन्ध में मेरी परिस्थिति उस व्यक्ति की तरह थी जिसके सामने उसका बाग़ उजड़ रहा है, पर जिसके हाथ बँधे हुए हैं ऐसे व्यक्ति के लिये पहला सवाल यह था कि उसके हाथ खुल जायँ।

जो कुछ भी हो मुझे यह सन्देह है कि इसी खींचातानी में मेरी पसली जितनी जल्दी अच्छी होती उससे देर में वह अच्छी हुई। टूटी हुई पसली जब तक थी तब तक मैं कर्त्तव्याकर्त्तव्य से बरी था। ऐसी हालत में मुझे किसी फ़ैसले पर पहुँचना जरूरी नहीं था। इसीलिये शायद चोट के अनुपात से आरोग्य होने में देर लगी। यह स्मरण रहे कि उस समय मैंने ऐसा नहीं सोचा था। अब जिस समय इस कथा को लिख रहा हूँ, उस समय ऐसा सोच रहा हूँ।

ख़ैर अच्छा हो गया। डाक्टर ने कहा कि कम से कम छः महीने तक कोई ऐसा परिश्रम न करूँ जिससे पसली पर जोर पड़े। उन्होंने कहा पसली अच्छी तरह बैठ गई है, पर एहतियातन कुछ दिन विश्राम करना ही अच्छा है।

यह तय हुआ कि मैं दिल्ली जाऊँ, और वहीं पर बहनोई के पास रहूँ। हमारे बहनोई साहब दिल्ली के नामी व्यापारी थे। मुझे घर से भगाने में पिताजी का क्या उद्देश्य था वे ही जानें, पर रवाना होते समय उन्होंने कहा—तुम्हारे बहनोई साहब ने लिखा है दिल्ली विश्वविद्यालय में एक रीडरशिप खाली है, वे उसे दिलवा सकेंगे। हो सके कर लेना। तुम्हारी माताजी तुम्हारे विवाह की तैयारी कर रही हैं।

पिताजी की यह आदत रही है कि जो अप्रिय बात होती है, उसे माताजी के नाम से कहते हैं। इस कथन का स्पष्ट अर्थ यह था कि पिताजी की यह इच्छा है कि मैं कुछ कमाऊँ, वे मेरा विवाह करना चाहते हैं।

मैं दिल्ली चला गया। यों शायद न जाता पर जब विवाह का नाम सुना तो मैंने दिल्ली चला जाना ही उचित समझा। यहाँ शायद अच्छी तरह विरोध न कर पाऊँ, पर वहाँ से आऊँगा ही नहीं तो विवाह किसका होगा, खंभे का ?

मुझे क्या पता था कि दिल्ली में ही कुछ और बदा हुआ था।

मेरी बहिन ने मेरा बहुत तपाक से स्वागत किया। वह ख़ुद बेचारी एन्ट्रेन्स तक पढ़ी थी। मैं सोर्बोन का डाक्टर होकर लौटा हूँ। वह फूली नहीं समाती थी। सबको बुला-बुलाकर मेरा परिचय कराती। ख़ैर परिचय करावे कोई परवाह नहीं। पैरिस में सालों रह आया, झेंपू नहीं था, पर वह तो मुझे पूरा हीरो बनाना चाहती थी जो मुझे बिलकुल नापसन्द था। फिर बहिन का परिचय अधिकांश रूप में व्यापारियों, बनियों, अग्रवालों में था। इसलिये मेरा परिचय सुनकर बहिन की सहेलियाँ मेरी तरफ़ ऐसे ताकतीं जैसे मैं कोई मदन पुष्प हूँ। इससे मुझे सचमुच बड़ा दुःख होता।

मैंने एक दिन बहिन को कह दिया—मीरा यह बात ठीक नहीं। आखिर कब तक मेरा इस प्रकार तमाशा बनाओगी ? क़ाफ़ी तो हुआ।

मेरी बात सुनकर मीरा रहस्यपूर्ण रूप से हँसी। वह मुझसे दो-तीन साल बड़ी थी। मैं भी उसे बड़ी मानता था, पर उसकी इस हँसी में ऐसा भाव छिपा हुआ था मानो मैं कोई नादान, उल्लू हूँ। बाद को मुझे मालूम हुआ कि मीरा की ही बात नहीं, प्रत्येक बहिन अपने युवक छोटे भाई को चाहे वह सोर्बोन का डाक्टर हो या डान क्विकसाट और यदि मैं माफ़ किया जाऊँ तो डान जुवान का एक अद्भुत सम्मिश्रण समझती है। फिर मैं पैरिस में था, इससे पता नहीं वह मेरे सम्बन्ध में और क्या-क्या धारणा रखती थी।

बड़ी मुश्किल से मेरी बहिन ने इतना बताया कि वह मेरे ब्याह का प्रबन्ध कर रही है। मैंने यह जो सुना तो मैं सन्न-सा रह गया। घर से दिल्ली इसलिए आया कि शान्ति से रहूँ, यहाँ फिर वही अशान्ति। मेरे मन में तो बड़ी-बड़ी समस्याओं का ताँता पड़ा हुआ था और उनके मारे रात को नींद नहीं आती थी, और इनको वही बचपन की आदत—गुड्डा-गुड़िया खेलने का शौक़ लगा हुआ था। यह गुड्डा-गुड़िया खेलना तो है ही, साथ ही दूसरों की जान लेकर खेलना भी है।

उस दिन से बहिन और मेरे सम्बन्ध में एक गाँठ-सी पड़ गई। अब मैं बहिन की सहेलियों से नहीं मिलता। अब अधिकतर घर के बाहर ही रहता।

थोड़े दिन में बहिन मुझसे निराश हो गई। मुझे बड़ा दुःख हुआ, पर क्या करता?

क्रिप्स प्रस्ताव से मेरी आशायें फिर हरी हो गईं। मैंने सोचा यदि कांग्रेस प्रस्तावों को मंजूर कर ले तब तो मेरी समस्यायें सुलझ जायँ। तब तो मैं निश्चिन्त होकर सेना में भर्ती हो जाऊँ।

पर क्रिप्स प्रस्ताव में शायद कुछ तत्त्व नहीं था, कांग्रेस ने उन्हें मंजूर नहीं किया। जहाँ तक मैं समझ सका हूँ कांग्रेस हाई कमांड ने इसे नामंजूर कर गलती की। बाद को शिमला कान्फरेन्स में कांग्रेस १९४२ के जिन खूनखच्चरों के बाद भी जिन शर्तों पर समझौता करने पर तैयार थी, वे मेरी क्षुद्र बुद्धि में किसी भी प्रकार क्रिप्स प्रस्ताव पर उन्नति नहीं कही जा सकतीं। कहा जाता है कि कांग्रेस नेताओं ने क्रिप्स प्रस्ताव को यही समझकर अस्वीकार कर दिया था कि जपानी आ रहे हैं। पर मैं ऐसा नहीं समझता। मैं तो इसे भाग्य ही समझता हूँ। जो चीज समझ में न आवे और अपने हाथ में न हो, उसे भाग्य कहने की परि-

पार्टी कोई बुरी नहीं है। अवश्य भाग्य बदला जा सकता है। अस्तु।

क्रिप्स के लौट जाते ही यह समझ में आ गया कि अब कांग्रेस और सरकार में लड़ाई होगी।

संक्षेप में कहानी यह है कि १९४२ का अगस्त आया। वातावरण पहले ही से तैयार था।

९ अगस्त को नेतागण गिरफ़्तार कर लिये गये। बस क्या था बारूदख़ाने में चिनगारी लग गई। नेतागण गिरफ़्तार न होते और बाहर रहते तो भी संभव है आन्दोलन होता, पर इस रूप में न होता।

नेताओं की गिरफ़्तारी से मुझे एक बार जोश आया, पर मेरा किसी से सम्बन्ध तो था नहीं, मैं चुपचाप घटनाओं को देखता रहा। अख़बार पढ़ता और इधर-उधर घूमता।

१६ अगस्त की बात होगी या १७ की। एक नौजवान मुझसे मिलने आया।

मैंने उसे एकआध बार देखा था, पर न तो मैं यह जानता था कि ये महाशय कौन हैं, और न शायद वे ही मुझे जानते थे।

नौजवान ने एक कुर्सी खींचकर बैठते हुए मेरे बहनोई का नाम लेते हुए मुझसे कहा—फलाने आपके बहनोई हैं न ?

मैंने कहा—जी हाँ, आप ?

उस युवक ने सरल तरीक़े से हँसते हुए कहा—हाँ, मैं अपना परिचय देना तो भूल ही गया—फिर गंभीर होकर कहा मेरा असली नाम है फ़तेहचन्द। मैं ए० आई० सी० सी० का मेम्बर हूँ, पर इस समय मेरा नाम है अग्निकुमार। आप मुझे अग्नि कहें।

महाशय अग्नि इतना कहकर एकाएक चुप हो गये। ऐसा

मालूम हुआ जैसे वह कुछ कहना चाहते हैं, पर कहें या न कहें इस उधेड़बुन में पड़े हैं।

मैंने कहा—कहिये, कहिये, जो मुझसे सेवा हो बताइये...।

महाशय अग्नि की झिझक जाती रही, बोले—मैंने सुना है आप रसायनशास्त्र के विशेषज्ञ हैं...।

मैंने कहा—यह आपको किसने कहा ? मैंने तो इन्डोलाजी में डाक्टरेट प्राप्त किया है...।

अग्नि कुछ निराश हुए। बोले—माफ़ कीजियेगा, मैंने आपको नाहक कष्ट दिया, मुझे कुछ और बताया गया था...।

—आपको क्या बताया गया था ?

—मुझे यह बताया गया था कि आपने पैरिस में विस्फोटक के कारखाने में काम किया है, कुछ ग़लती हुई...।

अग्नि नमस्कारकर उठने लगे। मालूम होता था वे बहुत व्यस्त हैं।

मैंने कहा—बैठिये-बैठिये, काम क्या है बताइये...।

मेरे चेहरे की तरफ़ सन्देह की दृष्टि से देखते हुए अग्नि ने कहा—जब आप उस विषय में कुछ जानते ही नहीं, तो फिर...।

मैंने कहा—मान लीजिये मैं विशेषज्ञ हूँ, तो ?

अग्नि ने कुछ अविश्वास और कुछ आश्चर्य के साथ मेरी बातों को पुनरावृत्ति करते हुए कहा—मान लीजिये आप विशेषज्ञ हैं तो ?

मैंने शान्त स्वर में कहा—लीजिये मैं आपको बताता हूँ फ्रांस के एक सरकारी बम के कारखाने में मैं अवसर के समय काम करता था। बात यह है मैंने बी० एस-सी० तक विज्ञान पढ़ा था, बाद को इन्डोलाजी में शौक पैदा हुआ।

अग्नि की बाछें खिल गईं। जैसे उनके दिल पर से जिम्मे-

दारी का एक भारी-सा बोझ उतर गया। उन्होंने कहा—हमें आपकी बड़ी जरूरत है.... ।

मैंने पूछा—हमें किसे ?

अग्नि ने बिना हिचकिचाहट के कहा—भारतवर्ष को, देश को।

मैंने कहा—मैं समझ गया, मैं तैयार हूँ, पर....।

—पर क्या ? अग्नि के चेहरे का रंग फिर उड़ गया।

मैंने कहा—देखिये, मैंने जहाँ बम बनाये हैं, वह था एक बहुत बड़ा कारखाना, वहाँ ३३ सौ आदमी काम करते थे। कोई काम चोरी से नहीं होता था। सरकारी कारखाना था। और जैसा कि आप जानते हैं, बड़े कारखाने में एक आदमी एक ही काम को करता है। यों जानता मैं सब प्रक्रियाएँ हूँ, पर मेरा काम था बने बनाये बमों को टेस्ट करना और उन्हें भेजने तथा पैकिंग की देखरेख करना। चार घंटे की एक शिफ्ट में काम करता था... ।

अग्नि ने कहा—बस-बस काम बन जायगा, हमारे यहाँ तो कोई कुछ भी नहीं जानता। उत्साह है, रुपये हैं, पर हम लोगों में से किसी को कुछ आता नहीं है... ।

मैंने कहा—मैं अपनी शक्ति भर आपको मदद दूँगा, पर समझ ही रहे हैं यह सब तैयारी पहले ही से होनी चाहिये थी। बड़े-बड़े देश भी बिना वर्षों की तैयारी के लड़ नहीं पाते... ।

अग्नि ने कहा—हाँ, बड़ी ग़लती रही, पर अब तो सब वारा-न्यारा हुआ जाता है। जनता अब उठ खड़ी हुई है।

मैंने भी माना कि जनता उठ खड़ी ?ई है। अग्निकुमार का जोश मुझमें भी संक्रामित हो गया। मैंने कहा—मालूम तो ऐसा ही होता है कि अब हम पराधीन नहीं रहेंगे।

अग्निकुमार से तय हो गया कि आज शाम को मैं उनके साथ पास के एक सेन्टर में जाऊँगा। यह सेन्टर कहाँ है, वहाँ मुझे क्या करना है, वहाँ और कौन है यह सब प्रश्न मैंने नहीं पूछा। सच तो यह है ये प्रश्न मेरे मन में ही नहीं आये। जमाना ही ऐसा था। हम लोग सब क्रान्ति की धारा की लपेट में थे।

यहाँ पर मैं यह बता दूँ कि जिस सेन्टर में मैं गया, उसी के लिये मेरा नाम प्रेमनाथ रक्खा गया। नाम तो बदल गया पर डाक्टर शब्द साथ-साथ चला। इस प्रकार मैं डाक्टर प्रेमनाथ हो गया।

१९४२ के विद्रोह में मैंने क्या-क्या किया इसे खोलकर बताने का अभी समय नहीं आया। उन दिनों जैसे सैकड़ों कांग्रेसियों ने किया मैंने भी किया। हाँ, मैं इतना बता दूँ कि एक बार जब मैं जुट पड़ा तो भूत-सा काम करने लगा। काम करने में मुझे मज़ा आता था। हाँ, जिस काम के लिये अग्निकुमार मुझे विशेषकर ले गये थे, उस काम के करने की कोई बहुत नौबत नहीं आई। एक आध बार जब नौबत भी आई तो मुझे अपनी विशेषज्ञता काम में लाना नहीं पड़ा। जो काम मुझसे लिया गया कोई भी अच्छा बी० एस-सी० उसे कर सकता था।

मुझे एक के बाद एक कई सेन्टरों में रहने तथा काम करने का मौक़ा मिला। इन सेन्टरों में कहीं-कहीं स्त्रियाँ भी थीं। इन स्त्रियों से बहुत से काम लिये जाते थे। मुझे देखकर आश्चर्य हुआ कि कम पढ़ी-लिखी स्त्रियाँ भी बाख़बी काम करती थीं। पैरिस की चपला सुरसिका सुन्दरियों को मैंने बहुत पास से देखा था। भारतीय शिक्षिता तथा अशिक्षिता स्त्रियों से भी मैं परिचित था, पर इन स्त्रियों में जो बात देखी, वह कहीं भी नहीं देखी। ऐसा ज्ञात होता था प्राणशक्ति की मात्रा इनमें जितनी अधिक है, इतनी कहीं नहीं देखने में आई।

इन सेन्टरों के पुरुष और स्त्रियाँ सभी यह समझते थे कि कुछ वारान्यारा होने ही वाला है। ४२ भर यह भावना रही। ४३ में भी कुछ काल तक यह धारणा रही। गांधीजी के अनशन से क्रान्ति की ज्वाला कहीं-कहीं भड़की। पर जल्दी ही ज्ञात होने लगा कि अब मुश्किल ही है।

अब तो आपस में तर्क भी होने लगे। ये तर्क कभी-कभी कलह के रूप धारण कर लेते। हम सभी अब तक एक ही मार्ग के पथिक थे। इसे हिंसा कहा जायगा या अहिंसा इसे सोचने की अब तक न तो किसी को फ़िक्र थी न फ़ुर्सत, पर अब ये सब तर्क भी उठने लगे। कोई-कोई फ़ासिस्टवाद और पाँचवे दस्ते का तर्क भी उठाने लगे।

जनता पर ख़ूब दमन हुआ था। उसका क्या हाल लिखूँ। १८५७ के दमन से भी यह दमन भयंकर था। बहुत-सी बातें जो सोर्बोन में छिपी थी, मेरी समझ में नहीं आई थी, वह अब मेरी समझ में आई। पाश्चात्य की पूँजीवादी सभ्यता के अच्छे पहलू को ही मैंने जाना था, अब मालूम हुआ कि वह कितना हृदयहीन है। साथ ही यह भी ज्ञात हुआ कि हम कितने असहाय हैं। १९४२ में आशा के जिस दीपक को जलाया था, वह अब बुझ चुका था। चारों तरफ़ अन्धकार ही अन्धकार था।

उधर पुलिस पीछा कर रही थी। सौभाग्य से मैं भारत की दो-तीन भाषाओं को बोल सकता था, पुलिस मुझे न पा सकी, पर इस प्रकार जान लेकर इधर से उधर भागना मुझे बहुत अच्छा नहीं ज्ञात हुआ। हद तो यह है कि अपने ऊपर भी घृणा उत्पन्न होने लगी।

मुझे जीवन के सब मूल्य ही उखड़े हुए मालूम दे रहे थे। फिर भी पुलिस से बचकर रहना ही था क्योंकि सुना था मेरे नाम से वारंट निकल चुका है। इसलिये एक सेन्टर में रहता

था। अब इसके सिवा कुछ काम नहीं था कि किसी प्रकार पुलिस से जान बचायी जाय। बहुत से ऐसे साथी जिनके साथ मैं काम कर चुका था अब गिरफ़्तार थे, उनके सम्बन्ध में तरह-तरह की बातें सुनने में आती थीं कि वे मारे गये। एक आध के सम्बन्ध में यह सुना कि वे मुखबिर हो गए। अजीब अस्थिरता का ज़माना था।

उर्मिला (४)

हम लोगों ने आन्दोलन में जान लाने की बहुतेरी कोशिश की पर किसी प्रकार सफलता नहीं मिली। आन्दोलन मर चुका था। मरे घोड़े को चाबुक लगाने से क्या फ़ायदा था? फिर भी हम लोग क्या करते?

आज मैं जब सोचती हूँ तो मुझे मालूम होता है कि इसके पहले तक अर्थात् १९४२ तथा १९४३ में भी कुछ दिनों तक हम लोग क्रान्तिकारी रहे, इसके बाद हम लोग आतंकवादी रह गये। हाँ नहीं तो क्या? एक क्रान्तिकारी और आतंकवादी में यही फ़र्क है न कि क्रान्तिकारी जनता के इतिहास निर्माण में भाग लेता है और आतंकवादी स्वयं ही अपने त्याग, तपस्या तथा वीरता से इतिहास निर्माण करने के लिये चल देता है।

हम लोग इस समय इसी दूसरी श्रेणी में आते थे। आतंकवादी से क्रान्तिकारी तो बहुत हुए, पर क्रान्तिकारी से आतंकवादी हमही लोग हुए। है न मजे की बात? पर यह अनिवार्य था।

और हम लोग आतंकवादी क्या हुए, हमने आतंक कहाँ फैलाया। केवल कुछ पर्चे निकालते थे। इन पर्चों का लिखना जिन साहब के ज़िम्मे था वे उनमें बस यही लिखा करते थे कि रेल की पटरी उखाड़ना या तार काटना अहिंसा है। इसी बात को प्रमाणित करने के लिये यह हजरत दूर-दूर की कौड़ी लाते थे। ये महाशय अपने को समाजवादी कहते थे, पर मैं तो इनको वामपक्षी गान्धीवादी कहना ही अधिक पसन्द करूँगी। इसके साथ ही यह बता दूँ कि गान्धीवाद में इस प्रकार वामपक्ष की कोई गुंजाइश नहीं थी। अगस्त १९४२ में हम लोगों को ऐसी धारणा

थी कि इस प्रकार की गुंजाइश है, पर अब तो स्वयं गांधीजी के पत्रों से ज्ञात हो चुका था कि इसको कोई गुंजाइश नहीं है। इसके बाद भी इस प्रकार ऊटपटांग बात करनी महज़ जबर्दस्ती थी। अरे जब तार काटने और पटरी उखाड़ने का ही पेशा बना लिया तो फिर गांधीवाद की शरण क्यों लेनी है। मुझे इन महाशय के ये पर्चे बहुत नापसन्द थे। आश्चर्य यह है कि यह महाशय बहुत भारी विद्वान समझे जाते थे।

पर मैं कितना ही इन पर्चों को नापसन्द करूँ ऐसी अजब परिस्थितियों में फँस गई थी कि इन्हीं तथा इसी प्रकार के और पर्चों को बटवाने में मदद देना मेरा काम था।

इन्दिरा भी अब नहीं थी कि लौट जाती। इसलिये लहरों में बह रही थी।

घूमते-घामते मैं एक सेन्टर में पहुँची जहाँ केवल चार आदमी थे। मैं और तीन पुरुष।

यहाँ कोई काम नहीं हो रहा था। हम लोग केवल जान बचा रहे थे। मुझे बताया गया कि मुझे इसलिये यहाँ भेजा गया था कि इन लोगों के ऊपर पुलिस की दृष्टि न जाय। एक स्त्री के रहने से कहते हैं घर के वातावरण में एक गृहस्थी तथा शराफ़त आ जाती है। यह बात स्त्रियों के लिये कुछ गौरव की बात तो है नहीं। राजनीतिक दृष्टि से विशेषकर क्रांतिकारी दृष्टि से स्त्रियों का पिछड़ापन ही इस परिस्थिति का कारण है।

मुझे यह भी बताया गया कि जरूरत पड़ने पर मैं अपने को इन्हीं फ़रारों में से एक साहब डाक्टर प्रेमनाथ की स्त्री कहकर परिचय दूँ। यह मेरे लिये कोई नई बात नहीं थी। इसके पहले भी मुझे कई बार इस प्रकार से किसी की बहिन और किसी की स्त्री करके परिचय देना पड़ा था। स्त्री जब एक बार घर के

बाहर निकल जाती है, तो उसे फिर छुईमुईपना त्यागकर ही विपुल विश्व में पदार्पण करना पड़ता है।

मुझे इस प्रकार परिचय देने में कभी कोई झिझक मालूम नहीं देती थी। बात यह है मैं जानती थी कि इस प्रकार के परिचय देने में कोई वास्तविकता है नहीं, फिर मैं क्यों झिझकती। जो नाचने चले तो फिर घूँघट काढ़ने से क्या ?

इस प्रकार मिथ्या परिचय प्रदान हमारे इस जीवन का एक अंग था। यह मिथ्या इस जीवन के लिये बहुत जरूरी मिथ्या थी। या तो हम इस जीवन में पदार्पण नहीं करती, या इस प्रकार जिस भी परिचय के देने से काम बनता वही परिचय देने के लिये तैयार रहती।

फिर भी मैं भारतीय नारी थी। पति मेरे लिये एक बहुत बड़ी बात थी। पति का नाम ही मेरे लिये बहुत था।

जब पहली बार मुझसे कहा गया कि मैं एक प्रसिद्ध फ़रार की बनावटी पत्नी बनकर रेल की यात्रा करूँ तो मुझे कुछ झिझक जरूर मालूम हुई थी। बाद को इस झिझक की बात सोचकर हँसी आती थी, पर जो बात थी उसी का इतिहास लिख रही हूँ। इन महाशय का नाम तो और था पर ट्रेन में हमलोगों ने इन्द्रकुमार और उसकी स्त्री सरला के नाम से यात्रा की।

टाँगे में स्टेशन गये, उस समय तो कोई दिक़्क़त नहीं हुई। मैं पीछे की सीट में बैठी, और वे आगे की सीट में टाँगेवाले के साथ बैठे।

स्टेशन पर गई। टिकट लिया गया। पर रेल पर चढ़ते समय मैंने कहा—मुझे स्त्रियों के डब्बे में न बैठा दीजिये...।

इन्द्रकुमार ने कहा—वाह ! यह कैसे हो सकता है ?

मैंने कहा—क्यों ?

उन्होंने चारों तरफ़ देखकर धीरे से कहा—अभिनय पूरा होना चाहिये न ?

मैंने भी उसी प्रकार धीरे से कहा—क्या मियाँ-बीबी रेल में बैठते समय हमेशा एक ही साथ बैठते हैं ? वे भी तो अलग-अलग डब्बे में बैठते हैं...।

—हाँ, पर वे सचमुच मियाँ-बीबी होते हैं, और उन्हें सब की आँखों में उँगली डालकर हर समय यह कहना नहीं पड़ता है कि देखो मैं बीबीवाला हूँ, यह मेरी बीबी है। उसे यह नहीं कहना पड़ता कि देखो मैं बीबीवाला हूँ, खतरनाक नहीं हूँ।

मैं समझ गई। मैं इन्द्रकुमार के साथ चलकर मर्दाने डब्बे में बैठ गई।

रास्ते भर वे मुझसे नहीं बोले, अकड़े रहे। मैंने भी कहा कि नहीं बोलते हो न बोलो, बनावटी पति बनने से कोई तुम हमारे मालिक नहीं हो गये हो।

उस यात्रा में और कोई उल्लेखयोग्य घटना नहीं हुई। तो यह मेरा इस प्रकार का पहला तजुर्बा था।

इसके बाद तो कई बार बनावटी पत्नी बनने का मौक़ा पड़ा, पर मैं फिर कभी झिझकी नहीं।

अब डाक्टर प्रेमनाथ की पत्नी करके इस सेन्टर में रहना पड़ा तो मुझे कुछ भी झिझक नहीं मालूम हुई। मैंने डाक्टर को अच्छी तरह देखा भी नहीं। ये मेरे पाँचवें पति थे ? क्या तजुर्बे हैं ? क्रान्ति का तजुर्बा जुदा, और यह तजुर्बा जुदा।

हम दो के अतिरिक्त जो दो साहब थे, इनसे भी हमारा सम्बन्ध जोड़ा गया। ये तीनों एक दूसरे के भाई करके परिचय देते थे। अतएव ये मेरे जेठ लगते थे। क़िस्सा यह बनाया गया था कि मेरे दोनों जेठ बीमार थे, यहाँ आबोहवा बदलने आये हैं और हम दोनों उनकी तीमारदारी के लिये आये हैं।

कोई बहुत बढ़िया क़िस्सा नहीं था, पर अड़ोस-पड़ोस के लोगों को सन्देहदृष्टि से बचने के लिये काफ़ी अच्छा खासा था।

हमारे ये जेठ सचमुच बीमार थे। शारीरिक रूप से शायद उतने नहीं जितना कि मानसिक रूप से। बात यह है बेचारे बालबच्चेवाले आदमी थे। अगस्त की आँधी में बह गये थे। जब तक जोश गरम था, ठीक था, पर उसके बाद से इनके लिये ये बातें कष्टकर हो रही थीं। बेचारे घर जाने के लिये तरसते, पर पुलिस बीच में थी। बेचारे क्या करते? कभी-कभी घर से खत आते तो दो-चार घंटे चहल-पहल रहती, फिर मुर्दानी छा जाती। पत्र भी सीधे नहीं आते, बड़ी चोरी से कई हाथ होकर आते और जाते।

अब मेरा काम यही रह गया था कि इन दोनों के पत्र भेजने और ले आने में मदद दूँ। क्या सुन्दर काम था? क्रान्ति करने चली, और यह किस बवाल में जान फँस गई?

डाक्टर प्रेमनाथ के कभी कोई पत्र नहीं आते, न वे किसी को पत्र भेजते ही थे। कम से कम मुझे नहीं मालूम। कभी-कभी मैं इस व्यक्ति के सम्बन्ध में सोचती कि अजीब आदमी है कि इसे दुनिया से कोई मतलब नहीं। कभी-कभी इस आदमी के जीवन के सम्बन्ध में बहुत कौतूहल होता, पर हम लोगों में यह तो तरीक़ा था ही नहीं कि कोई किसी के वैयक्तिक जीवन के सम्बन्ध में कुछ पूछे। अतएव यों ही चुप रहती थी।

एक दिन हमारे छोटे जेठ साहब चले गये। बड़े जेठ बिगड़े, इससे मैं समझ गई कि छोटे जेठ साहब उनकी इच्छा के विरुद्ध चले गये हैं। बड़ा कौतूहल हुआ कि पूछूँ कहाँ गये, पर यहाँ तो कोई भी बात पूछना मना था।

चार दिन बाद की बात है। शाम को अखबार आया। बड़े जेठ साहब उसे देखते उबल पड़े। बोले—देखा वही हुआ

जो मैंने कहा था। मैंने कहा था मत जाओ, मत जाओ, पर गये। वहाँ घर में गिरफ़्तार कर लिये गये। अब भेजे जायेंगे बच्चा लाल क़िले में.......।

समझ तो मैं गई, पर मैंने कहा—महाशयजी, कौन गिरफ़्तार हो गया?

वही ओ३म्प्रकाश और कौन? मैंने बारबार कहा था घर मत जाओ, पर सुनता कौन था, अब बर्फ़ की सिल्ली पर बैठाये जायेंगे तो मालूम होगा......।

मैंने कहा—कौन, चंद्रनाथ जी गिरफ़्तार हो गये?

ह-हाँ, व ह ी चंद्रनाथ, उसका असली नाम ओ३म्प्रकाश था। मुझे डर है कि कहीं मुख़बिर न हो जाय नहीं तो हम लोग भी पकड़े जायँ...।

मैंने कहा—मुख़बिर? नहीं, वे कभी मुख़बिर नहीं हो सकते, बड़े तगड़े विचारों के आदमी थे। रात को उठकर रामायण पढ़ते थे, मुझे बड़ा अच्छा मालूम देता था।

तुम क्या जानो उर्मिला, हाँ-हाँ रात को नींद नहीं आती थी तो कुहराम मचाता था। मैंने कई बार उसे छिपकर रोते देखा है।

रोते?—मैंने आश्चर्य तथा अविश्वास के साथ कहा—चंद्रनाथ जी रोते थे।

हाँ-हाँ, ओ३म्प्रकाश रोता था। मैंने ख़ुद आँसू देखे थे। कौन वह शेर है, उसे मैं लड़कपन से जानता हूँ। ३२ के आन्दोलन में माफ़ी माँगकर छूटा था। हम लोगों ने कहा आपस का आदमी है, छिपाओ। कहा—मेडिकल ग्रौंड पर छूटा है।

अच्छा!—मैंने आश्चर्य से कहा। चंद्रनाथ उर्फ़ ओ३म् प्रकाश की इस प्रकार कलई खुलने से मुझे कुछ अजीब परेशानी-सी हुई। भीतर जैसे कुछ करकराने लगा।

बड़े जेठजी ने डाक्टर साहब को बुलाकर कहा—डाक्टर, अब हम लोगों को फ़ौरन यह मकान छोड़ देना चाहिये, कहीं ओउम्प्रकाश मुख़बिर हो गया तो सबसे पहले वह इसी मकान की ओर लपकेगा।

डाक्टर प्रेमनाथ सब सुन रहे थे। पर वे ज़रा भी नहीं घबड़ाये, न डरे। उन्होंने मुँह पर हाथ रखकर जमुहाई ली, फिर कहा—अगर गिरफ़्तार हो गये तो डर क्या है। अब कहाँ दौड़ा-दौड़ा फिरूँ, अच्छा नहीं लगता।—डाक्टर ने बात कहकर मेरी तरफ़ देखा कि मैं क्या कहती हूँ।

मैंने कुछ नहीं कहा।

बड़े जेठ साहब ने कहा—तो क्या मैं बैठे-बैठे थोड़े ही गिरफ़्तार हो जाऊँगा, नहीं अन्तिम मुहूर्त्त तक लड़ूँगा—do or die.

हम लोगों ने कुछ नहीं कहा।

जेठ जी समझ गये कि डाक्टर भागने को तैयार नहीं हैं। उसी दिन वे भाग गये। जाते समय एक चिट्ठी में लिख गये कि वे हम लोगों की इस प्रकार उदासीनता को कायरपन समझते हैं।

अब हम लोगों की अजीब परिस्थिति हो गई। बाक़ी रहे डाक्टर और मैं।

कोई ऐसी बात नहीं, फिर भी...।

यदि इस समय इन्दिरा जीवित होती तो मैं उसी के पास चली जाती। भागकर नहीं, डाक्टर से कहकर जाती। फिर भी डाक्टर के पास से इस प्रकार उन्हें अकेला छोड़कर जाते हुए मुझे कुछ झिझक अवश्य होती। बेचारे डाक्टर !

पर इस अवस्था में मेरे लिये कहीं जाने का प्रश्न ही नहीं उठता था। इसलिये नहीं कि मुझे यहाँ से कोई विशेष मोह हो

गया था, बल्कि इसलिये कि भागकर जाने के लिये कोई रास्ता ही नहीं था। मैं तो अपनी सब नावों को जलाकर यहाँ पर आई थी।

अपने कमरे में बैठे-बैठे मुझे एकाएक यह भय हुआ कि इस अवस्था में कहीं डाक्टर प्रेमनाथ भाग गये तो? इस विचार के आते ही मैं आतंकग्रस्त हो गई। ऐसा डर मालूम हुआ कि कभी मालूम नहीं हुआ था।

क्या अजीब बात है! घरद्वार छोड़ दिया। बाप छोड़ा, भाइयों को छोड़ा, अब आकर यह किस माया में फँस गई! और क्या यह माया थी? नहीं, माया नहीं। मैंने अपने हृदय को ख़ूब टटोला। क्या इसके किसी कोने में डाक्टर प्रेमनाथ को कहीं जगह मिल गई थी? बिलकुल नहीं। मैं हँसते-हँसते उनको कौशिकजी पर सौ बार निछावर कर सकती थी।

पर फिर क्या बात है? बात यह थी कि डाक्टर प्रेमनाथ ही अब मेरे जीवन के पिछले हिस्से के साथ मुझे जोड़नेवाली एकमात्र कड़ी के रूप में थे। ऐसी हालत में उनके भाग जाने की चिन्ता ज़रूर भयप्रद थी। यह उनके प्रति प्रेम नहीं उस तिनके के प्रति प्रेम था जो एक अन्तिम अवलम्ब के रूप में था।

इस प्रकार मैं सोचती रही। पर कहीं कुछ पार लगता ज्ञात न हुआ। मुझे मालूम होने लगा कि मेरे लिये जीवन का अन्त हो चुका है। कहीं आशा की एक किरण भी नहीं दिखाई पड़ रही थी। कई बार मुझे ऐसा मालूम हुआ कि डाक्टर प्रेमनाथ भी ज़रूर भाग जायेंगे। पर नहीं वे बहुत शरीफ़ हैं, कभी मुझे इस प्रकार असहाय छोड़कर नहीं भागेंगे। शरीफ़ तो ओउमप्रकाश और दूसरे सज्जन भी थे, पर वे भाग तो गये। यदि आवश्यकता हुई तो शराफ़त डाक्टर प्रेमनाथ को यहाँ से भागने से नहीं रोकेगी।

सोचते-सोचते मैं कभी निराश होती, कभी क्रोध में आती, कभी यह सोचती कि चुपचाप पड़ी रहूँ जैसा होगा तैसा भुगत लिया जायगा। कौन डाक्टर मेरे कोई लगते हैं कि भाग जायेंगे तो मैं मर जाऊँगी। इनका मेरा साथ तो रेल के साथ की तरह है। परिस्थितियों ने लाकर एक सेन्टर में इकट्ठा कर दिया, बस। इतना ही तो परिचय है। उनसे मेरी कभी कोई घनिष्ठता नहीं हुई। कभी यह भी नहीं पूछा कि आप काहे के डाक्टर हैं। अवश्य उनकी स्वल्पभाषिता, नम्रता और सबसे बढ़कर एकान्त-प्रियता से मैं उनपर बहुत ख़ुश थी, पर यह ख़ुश होना कोई विशेष माने नहीं रखता था। इस ख़ुश होने का मोटे ढंग से केवल इतना अर्थ था कि मैं उनपर नाख़ुश नहीं थी।

इसी प्रकार तरह-तरह की पीड़क चिन्ताओं से मैं परेशान होकर सो गई।

रात को नींद ठीक-ठीक नहीं आई। कई बार नींद उखड़-उखड़ गई। रात के आख़िरी हिस्से में एक भयावना स्वप्न देखा। वह स्वप्न यह था कि एक पहाड़ी नदी के बहाव में मैं बही जा रही हूँ। ताज्जुब है कि मैं तैर नहीं रही थी, सच बात तो यह है कि तैरना नहीं जानती थी, पर फिर भी डूब नहीं रही थी। मैं घबड़ा रही थी, पर बहाव के सामने एक नहीं चलती थी। अन्त में मैंने बहाव को आत्म-समर्पण कर दिया था चाहे डूबूँ या बचूँ।

बहते-बहते एक विन्दु पर मैंने किनारे की ओर दृष्टि दौड़ाई तो कौशिकजी किनारे पर बैठे हुए थे। उनका वह हृष्ट-पुष्ट चेहरा नहीं था। पीले पड़ गये थे। शरीर आधा नहीं रह गया था। बाल का न मालूम कब से कंघी का सामना नहीं हुआ था। मैंने जो उन्हें देखा तो पूरा ज़ोर लगाया, और एक छलांग में उनके

पास पहुँची। पर किनारे पर चढ़ने गई तो नहीं चढ़ पाई। चढ़ने की कोशिश में किनारे का एक टुकड़ा जिसका वज़न पचास-साठ मन होगा घसल गया, और उसके साथ कौशिकजी भी पानी में गिर पड़े। मैं तो बच गई, पर कौशिकजी का पता नहीं लगा। वे डूब गये। मुझे बड़ा अफ़सोस हुआ कि मेरी ही कुचेष्टा के कारण वे डूब गये। इसके बाद मैंने स्वयं डूबने की चेष्टा की, पर जितनी बार मैंने डूबने की चेष्टा की उतनी ही बार मैं ऊपर आ गई। मेरे स्वप्न का सबसे भयानक हिस्सा वह नहीं था जब मैं स्रोत में बह रही थी, न वही हिस्सा था जब वह किनारा धँस गया और कौशिकजी डूब गये, बल्कि वह हिस्सा था जिसमें मैं डूबने की चेष्टा कर रही थी, और किसी प्रकार डूबने में सफल नहीं हो रही थी। जितनी बार डुबकी लगाती थी, उतनी ही बार न मालूम कौन शक्ति मुझे ऊपर को फेंक देती थी।

यह शक्ति क्या थी ? मेरा भाग्य ! पता नहीं।

मैं रोज सुबह उठा करती थी, पर उस दिन उठने की न मालूम क्यों इच्छा ही नहीं हुई।

जब देर तक नहीं उठी, तो डाक्टर ने पूछा। मैंने उठकर किवाड़ खोल दिया। किवाड़ खोलने के लिये जब उठी तब ज्ञात हुआ कि मैं बीमार हूँ और ख़ूब बीमार हूँ।

डाक्टर ने मुझे देखते ही कहा—अरे यह क्या आप तो बहुत बीमार हैं ? आँखें सुर्ख़ हो रही हैं।

मैंने कहा—होगा, कुछ हरारत जरूर है...।

डाक्टर ने कहा—मामूली हरारत नहीं ज्यादा बुखार है, सब चेहरा लाल हो रहा है..., लेटिये, लेटिये।

मैंने कहा—आप को चाय बना दूँ, फिर लेटूँगी।

बात यह है खाना पकाने का काम मेरे ही सुपुर्द रहता था मैंने ही स्वयं यह काम अपने ऊपर लिया था।

डाक्टर हमेशा धीरे बोलते थे, कभी जोश में नहीं आते थे, पर चाय बनाने का नाम सुनकर एकाएक बिगड़ गये, बोले—जाइये, जाइये, चाय बन जायगी—फिर नरम होकर बोले—लेटिये, मैं डाक्टर बुलाने जा रहा हूँ।

वे कुछ न कहकर चले गये। मुझे उनकी यह उद्दंडता अच्छी लगी। नम्रता का भी समय होता है, और उद्दंडता का भी।

क्या करती? मैं जाकर लेट गई।

थोड़ी देर में डाक्टर के साथ प्रेमनाथ आये। डाक्टर ने मुझे अच्छी तरह देखकर अर्थात् स्टेथोस्कोप लगाकर, जीभ निकलवाकर मुँह बना लिया। कहा—अच्छी हो जायेगी।

फिर दोनों चल दिये। मेरे कमरे से निकलकर प्रेमनाथ और डाक्टर में धीरे-धीरे बातचीत हुई। डाक्टर की एक बात मैंने साफ़ सुन ली—आपकी स्त्री को शायद टायफ़ायेड है, दो-तीन दिन में ठीक मालूम होगा।

बुख़ार बढ़ने लगा।

सचमुच टायफ़ायेड ही निकला।

कौशिक (५)

निरवच्छिन्न शान्ति शायद मनुष्य को कभी नहीं मिल सकती। जेल में आने पर मैं बहुत-सी टेढ़ी समस्याओं से छुट्टी जरूर पा गया, पर शान्ति दूसरी ही चीज़ है। क्या शान्ति केवल अशान्तियों के अभाव की अवस्था को कहते हैं? शायद नहीं। शान्ति तो तभी हो सकती है जब सुख हो। पर मेरे मन में सुख कहाँ था?

सबसे बड़ा दुःख तो यह था कि मैं १६४२ में खुलकर खेल नहीं पाया। इस प्रकार का दुःख शायद कुछ अधिक व्यक्तिवादी था क्योंकि जब भारतीय जनता ने घटनाओं की बागडोर अपने हाथों में ले ली, जब वह इतिहास निर्माण के कार्य में स्वयं प्रवृत्त हुई जैसे कि वह इसके पहले कभी प्रवृत्त नहीं हुई थी तो फिर मेरे इस अफ़सोस का क्या अर्थ था? फिर जो जेल में होता है, उसका क्या कुछ योगदान नहीं होता? मैं यहाँ आध्यात्मिक शक्तियों के मुक्त होने की बात नहीं कर रहा हूँ, न दीवारों के अन्दर से मूक प्रेरणा की बात कर रहा हूँ, मैं तो केवल इतना ही कह रहा हूँ कि जो लक्ष्य के लिये लड़ते-लड़ते मर जाता है, या घायल होकर स्ट्रेचर पर अस्पताल पहुँचा दिया जाता है, या शत्रु के हाथों में बन्दी हो जाता है, लड़ाई जीतने में उन सबका हिस्सा होता है। क्या यह धारणा केवल एक तसल्ली मात्र थी? मैं कह नहीं सकता।

शायद तसल्ली ही होगी क्योंकि मुझे अपनी जबर्दस्ती लादी गई अकर्मण्यता पर अफ़सोस होता था इसमें सन्देह नहीं। अब इसका चाहे जो अर्थ समझा जाय।

कितना भी छोटा हो पर मैंने एक संगठन खड़ा किया था। मैं जानना चाहता था कि उसका क्या हुआ, उसने, उसके लोगों ने इस क्रान्ति में कितना हाथ बटाया। कहते हैं एक संस्था एक व्यक्ति की प्रलम्बित छाया है। अवश्य यह बात एक सामूहिक संस्था के विषय में सत्य नहीं है। सामूहिक संस्था तो समूह की प्रलम्बित छाया होती है। फिर भी उनमें भी कुछ व्यक्ति प्रधान तो होते ही हैं। मने जिस क्षुद्र संस्था को जन्म दिया था, उसमें मेरा कुछ प्रमुख भाग अवश्य था। कम से कम मैं ऐसा समझता था। यह शायद मेरी अहमन्यता थी, पर मैं इसी रूप में सोचता था।

न म कुछ कर पाया तो क्या मेरी संस्था ने तो की, इसे सोचने में शायद तसल्ली होती थी।

क्या मुझे तारा की याद आती थी? हाँ, ज्यों-ज्यों जेल में अधिक दिन बीतते जाते, त्यों-त्यों तारा भूलती जाने के बजाय मेरे निकट अधिक सजीव होने लगी। उसकी प्रत्येक बात याद आती, मेरा मन एक परिभाषाहीन उदासी से भर जाता। उसके सम्बन्ध की बहुत-सी घटनाओं में एक नया अर्थ, एक नई व्यंजना प्रतीत होती उसकी बहुतसी बातें जिनको मैंने सुन तो रक्खा था, पर उस समय उन पर ग़ौर करने का मौक़ा नहीं मिला था, अब एकाएक मेरी मानसिक आँखों के सामने आ जातीं, और उनमें एक अकल्पितपूर्व अर्थ ज्ञात होता। ये सभी अर्थ मुझमें एक अजीब उदासी ला देते। मेरे अन्दर एक पश्चात्ताप-सी भावना अँगड़ाई लेकर उठती। अस्पष्ट रूप से ऐसा ज्ञात होता कि कहीं मैंने तारा के साथ, जगत के साथ, अपने साथ एक अन्याय किया है। कहीं मैंने अपने को रोका था, जहाँ उसकी जरूरत नहीं थी, जहाँ अपने को रोकने से किसी को फ़ायदा नहीं था, ख़ूब सोचकर देखा किसी को नहीं........।

विशेषकर उस रात की बात याद आती जब उसने निराश होकर मेरे पैर पकड़ लिये थे, और भर्राई हुई आवाज में कहा था—बोलिये कुछ कहते क्यों नहीं ।

अरे उस प्रार्थना भरी आँखों की दृष्टि से तो पत्थर का दिल भी पिघलकर रो देता । मेरी आँखों पर ख़ुद एक झपसट आ गया था, पर मैंने पैर छुड़ाने का प्रयत्न किया था । मुझे अब यह सोचकर अपने को धिक्कारने की इच्छा हो रही थी । पैर छुड़ाने के प्रयत्न में तारा की छाती पर का कपड़ा सरक गया था, कमर के ऊपर तक उसका सारा बदन खुल गया था । मैं खाट पर बैठा था, वह एक कुर्सी पर बैठी थी । उस समय मैंने यही समझा था कि मैंने उसके अर्धनग्न शरीर को नहीं देखा था । बात यह है कि मैंने कुछ मुँह फेर-सा लिया था । पर जेल की चहारदीवारी के अन्दर इतने महीनों रहने के बाद मुझे यह जानकर आश्चर्य हुआ कि नहीं मैंने कमर तक उसके पूरे शरीर को अच्छी तरह देखा था मैं उसके एक-एक ब्यौरे को बता सकता था ।

अब मुझे इन बातों को सोचकर आश्चर्य होता । किसी दूसरे पर नहीं । अपने ऊपर । ठीक ही तारा ने मुझे पत्थर कहा था ।

मैं यह नहीं कहता कि उसके भोलेपन के प्रेम का फ़ायदा मुझे उठाना चाहिये था, पर मैं प्रेम के बदले प्रेम तो कर सकता था, हृदय के बदले हृदय तो दे सकता था । शरीर ? सो देखा जाता । पर सच कहूँ ? महीनों चहारदीवारी के अन्दर रहने के बाद मुझे मालूम होने लगा शरीर इतना बुरा क्या है ? मैं भौतिकवादी क्या खाक हूँ जो मैं शरीर से इतना घबड़ाता हूँ । प्रेमिक-प्रेमिका में मन के साथ-साथ शरीर का आदान-प्रदान जिसमें किसी पक्ष का शोषण नहीं है, उसमें बुराई क्या है ?

इन्हीं सब बातों को मैं सोचता और सोचते-सोचते व्याकुल हो जाता। जेल की दीवारें अब मुझे इतनी अखरतीं जितनी कभी नहीं अखरी थीं।

कभी चिट्ठी पत्री का बन्द रहना मुझे बहुत भला मालूम हुआ था तब मैं जीवन से पला तक था। पर अब मेरी जो चिट्ठी-पत्री बन्द थी, वही विशेषकर अखरती। पर जेल की दीवारें सब सुख-दुःखों को ख़ूब जोर से लोहा कर देती हैं। तुम कितने दिन तड़पोगे, कितने दिन झींकोगे? जेल की दीवारों के साथ धैर्य की दौड़ में कब तक दौड़ोगे? वे तो थकेंगी नहीं, तुम भले ही थक जाओ। थक जाओ क्या वह तो जाओगे ही कितने राज-नीतिक क़ैदी जेलों में मर गये! उनके भी हृदय थे, वे भी शायद किसी से प्रेम करते थे, उनका भी एक निजी जगत था वे मर गये। अपने जगतों को लेकर मर गये, उनके सुख-दुःख, प्यार-घृणा सब मर गये। कौन इनका लेखा रखता है? कोई नहीं। कोई कह सकता है इन्हीं दधीचियों की हड्डियों से क्रान्तियों के वज्र बनते हैं। ठीक है, पर इस कारण उनके सुख-दुःख प्यार-घृणा व्यर्थ तो नहीं हैं। पर उन्हें कौन समझता है? दूसरे नहीं समझते, ठीक है, पर अपने लोग नहीं समझते। लोग शहीदों और ऐसे लोगों के सम्बन्ध में ऐसी धारणा रखते हैं मानो वे साधारण लोगों से पृथक एक तरह के सजीव पत्थर हों, पर सच तो यह है कि वे पत्थरों में पिसे हुए पुष्प होते हैं। किसी शहीद को नज़दीक से जाकर देखो तो।

जो हो अन्त में वह भी दिन आया जब सरकार ने आज्ञा दी कि अब मैं बाहर पत्र लिख सकता हूँ। खैरियत है? मरने के पहले ही यह रियायत तो मिली। कितनी असीम कृपा है।

पत्र लिखने को जरूर मिला, पर उस पर पचास शर्तें लगी

हुई थीं। राजनीतिक बात तो कोई लिख ही नहीं सकते थे। किसी का नाम यदि पत्र में आ गया, तो एक अलग पर्चे में उसका पता तथा उससे पत्र लेखक की क्या रिश्तेदारी या रिश्ता है, यह लिखना पड़ता था। भला ऐसे बन्धनों में कौन पत्र लिख सकता था।

राजनीतिक बात तो न कोई लिखी जा सकती थी, न पूछी जा सकती थी। इस प्रकार वह बात तो योंही खतम हुई।

रही तारा की बात। हाँ, वह पूछी जा सकती थी। यही क्या कम है? मैंने झट से एक पत्र लिख डाला। तारा के भाई को लिखा कि क्या तारा का कुछ पता लगा या नहीं। बात बहुत साधारण थी। जिसे पत्र लिखा था उसकी बहिन ग़ायब हो गई थी, उससे यह पूछना था कि उसका कुछ पता लगा या नहीं, पर मन में चोर था, बड़े घुमावफिराव से बात लिखी। पत्र तो लिख दिया, अब सवाल यह आया कि स्लिप में तार के साथ अपना रिश्ता क्या लिखूँ। बहिन? नहीं, इतनी धोखेबाज़ी नहीं हो सकती। जब वहिन थी तब थी, अब उसके सम्बन्ध में उस प्रकार नहीं सोच सकता। पर पुलिसवालों को इन गहराइयों में कहाँ से लाऊँ?

अन्त तक मुँह बिचकाकर तारा के नाम के सामने अंग्रेजी में बहिन ही लिख दिया। हिन्दी में बहिन शब्द का माने पहले चाहे जो कुछ रहा हो, अब उससे लौकिक व्यवहार इतना ही अर्थ रखता है कि जिस स्त्री से कोई अन्य रिश्ता नहीं है, वह यदि माँ की या बेटी की उम्र की नहीं है तो उसे बहिन कहा जा सकता है। बहुत से रोमैंसों का प्रारंभ ही बहिन जी करके होता है?

इतना करने पर भी पत्र नहीं गया। किसी मूर्ख सी०आई० डी० वाले ने तारा को कोई कोडवर्ड समझा या क्या, जहाँ उसकी बात लिखी थी उसपर लाल पेन्सिल चलाकर भेज दिया।

मुझे बड़ा क्रोध आया। मैंने जान-बूझकर एक भी राजनीतिक बात नहीं लिखी, और तिस पर भी यह बदमाशी ? जेलर कुछ भला था। उसने कहा, दूसरा पत्र लिख दीजियेगा। पर मुझे क्रोध इतना आया था कि मैंने लौटे हुए पत्र को फाड़कर फेंक दिया, और फिर पत्र नहीं लिखा।

पर क्रोध कब तक चलता ? इस क्रोध से मुझे तो नुक़सान था, पर जिस पर मैंने क्रोध किया था उसका इससे क्या बिगड़ता था। बहुत संभव है कि मैं दस वर्ष तक क्रुद्ध रहूँ, पर उसे मालूम भी न हो कि कोई उस पर क्रुद्ध था। अवश्य मालूम होने से ही कुछ हो जाता यह बात नहीं है। मैं तो केवल एक तथ्य लिख रहा हूँ। मजे की बात है कि जेलर साहब ने अपनी भलाई के कारण ही मेरे द्वारा पत्र फाड़ डाले जानेवाली बात न साहब से बताई थी न सी० आई० डी० के महाशय से।

अन्त में खून का घूँट पीकर फिर पत्र लिखा। अबकी बार केवल इतना लिखा कि तुम्हारी बहिन साहबा के विषय में चिंता बनी है।

अबकी बार पत्र चला गया।

जेलर साहब शाम को बन्द कराने आये तो अलग ले जाकर बोले मानो कोई बहुत बड़ी गुप्त बात बता रहे हों—आपका लेटर चला गया......

मैं क्या कहता, मैंने कहा—हाँ।

—लेकिन साहब मान गया आप क्रान्तिकारियों का लोहा।—जेलर साहब का चेहरा सर्वज्ञतासूचक हँसी से उदभासित हो गया।

मैं कुछ समझ नहीं पाया कि यह एकाएक तारीफ क्यों हो रही है। मैंने शून्य दृष्टि से जेलर के चेहरे की ओर देखा।

जेलर ने कहा—फिर भी वही बहनवाली बात लिख ही दी न ?

—आपने कैसे जाना ? —मैंने पूछा।

—मैंने पढ़ा था, वाह साहब वाह ?

कानून की दृष्टि से एक नजरबन्द के पत्रों को जेलर को पढ़ने की कोई जरूरत नहीं थी, इसके लिये तो सी० आई० डी० रहता है, पर यह सब कौन सुने। यहाँ तो गरीब की लुगाई सब की भौजाई वाली नीति चलती है। क़ैदी के पत्रों को सभी जेल और पुलिस-वाले पढ़ते हैं, और उनको पढ़कर मजाक भी उड़ाते हैं। जेल की विवशताओं में यह भी एक है। इसी प्रकार प्रतिक्षण अपमान में ही क़ैदी का जीवन बीतता है। मजे की बात है कि हमें जानबूझ-कर भी इन बातों को घोट जाना पड़ता था। मैं भी घोट गया।

मैंने अपने क्रोध को छिपाने के लिये हँस दिया।

जेलर ने इसे अपनी तारीफ़ समझी। उसकी बाछें खिल गईं। मूछों पर ताव देकर बोला—वह सी० आई० डी० वाला साला क्या जाने, मैं आप लोगों से बीस साल से डील कर रहा हूँ, मैं जानता हूँ बहिन शब्द से आपका मतलब क्या था......।

मैंने जल्दी में कहा—नहीं-नहीं, उसका कोई मतलब नहीं था......।

—अरे कौशिकजी दाई से पेट नहीं छिपाया जाता। खग जाने खग ही की भाखा। बहिन से आपका मतलब आन्दोलन का है—कहकर वह ख़ूब जोर से हँसा मानो बड़ी भारी तीरन्दाजी की है।

जी में आया कि कहूँ—वाह रे खग—और लालबुझक्कड़ी के पुरस्कार स्वरूप खग के रग पर दो रद्दे जमाऊँ, पर मसलहत के कारण मैं भी हँस पड़ा। कौन इससे सर खपावे।

पत्र का उत्तर यथा समय आया, पर बहिनवाले प्रश्न का कोई उत्तर नहीं था। कई सतरें सी० आई० डी० द्वारा कटी थीं। पता नहीं, उनमें इस सम्बन्ध में कुछ था या नहीं ? उधर से कुछ लिखा हो और बहिन का अर्थ आन्दोलन लगाकर काट दिया हो तो क्या ताज्जुब।

मन मसोस कर रह गया। जिस पद्धति से मैंने लड़ाई ठानी थी, वह कुछ तो कष्ट जान कर देती थी, और कुछ कष्ट तो महज़ इस पद्धति में अन्तर्निहित लालबुझक्कड़ी के कारण मिलते हैं।

दो-तीन पत्रों में उस विषय में पूछा, पर कोई उत्तर नहीं मिला अन्य मित्रों को लिखा। वही चुप्पी। अन्त तक थककर मैंने उस विषय पर लिखना छोड़ दिया।

सोचा कि जब छूटूँगा तो मालूम होगा उसके पहले नहीं।

पर इधर से मुझे जितनी ही निराशा होती गई मैं तारा की धारणा को उतना ही कसकर पकड़ता गया। धारणा नहीं तो क्या ? वह अब मेरे लिये एक आनन्दप्रद धारणामात्र थी, कवि की भाषा में phantom of delight.

मैंने अब यह तय कर लिया था कि अब मैं उसे अपनी जीवन-संगिनी बनाऊँगा। किसी स्त्री के साहचर्य से मेरे कार्यक्रम में कोई बाधा नहीं हो सकती। मैं एक साधारण सैनिक हूँ तो क्या ? तारा मेरी छोटी-सी क्रुपस्काया नहीं हो सकती ?

इस सम्बन्ध में मैंने मन ही मन अन्तिम निर्णय कर लिया। मनमें अब मैं उसका पति हो चुका। क्या अच्छा रहेगा ? अब हम दोनों मिलकर काम करेंगे। शेक्शपियर ने लिखा है—Women thy name is frailty स्त्री, तेरा नाम दुर्बलता है ; पर मैंने तय कर लिया कि यह बात गलत है। वह मुझे अनुप्रेरणा देगी, और मैं उसे।

जब मैंने यह फैसला कर लिया तो मेरी बहुत-सी गुत्थियाँ सुलझ गईं, पर नहीं ये गुत्थियाँ तो कल्पना में ही सुलझी थीं। अब मैं चाहने लगा कि जल्दी से जल्दी मुझे मौक़ा मिले कि मैं इस समाधान को काम में ला सकूँ।

पर क्या दीवारों के भी हृदय होते हैं? दीवारों के कान होते हैं ऐसा कहा जाता है, पर उनके हृदय नहीं होते। कम से कम जेल की दीवारों के नहीं। फिर जिस पद्धति की दानवीय चक्की में मैं पिस रहा था, उसको तो मानवता छू नहीं गई थी।

४३ गया, ४४ गया, ४५ में लड़ाई खतम हुई। पर मैं नहीं छूटा। ४६ में देर में छूटा। शरीर शिथिल पड़ गया था, मन भी। जब जेल गया था तो तारा का कोई स्थान नहीं था, पर अब मेरे मन के सब तार 'तारा तारा' की ही रट लगा रहे थे।

———

उर्मिला (६)

टायफाइड में मैं चालीस दिन तक पड़ी रही। बल्कि उससे कुछ अधिक।

अधिकतर समय तो मुझे सुध-बुध नहीं रहती। कभी-कभी जब अर्धचेतन अवस्था में होती थी तो मुझे मालूम हो जाता कि एक अत्यन्त स्नेहार्द्र यत्नशील व्यक्ति मेरी सेवा में संलग्न है। ऐसे ही बहुत दिन बीते।

मृत्यु और जीवन में तुमुल रस्साकशी हुई। अन्त में जीवन जीता। इसका सारा श्रेय डाक्टर प्रेमनाथ को है। उनकी सेवा के बग़ैर मैं नहीं जी सकती थी। उन्होंने टट्टी-पेशाब से लेकर सभी कुछ किया।

जब मैं बिलकुल ठीक हो गई तो एक दिन जिन डाक्टर साहब का इलाज हो रहा था वे बोले—प्रेमनाथ जी, अब तो आपकी श्रीमतीजी अच्छी हो गईं, अब तो मुझे छुट्टी है।

श्रीमतीजी? मुझे सारी बात याद आ गई। अब भी अभिनय जारी है? दुनिया वहीं है।

प्रेमनाथ ने डाक्टर को कहा—हाँ, पर सुनते हैं, इसमें रिलैप्स होता है, कभी-कभी आकर देख जाइयेगा।

—हाँ—डाक्टर ने कहा—जो एहतियात मैंने बतलाये, उन्हें कुछ दिन जारी रखिये। बस कोई खतरा नहीं रहेगा। मुझे जब चाहे याद कर लीजिये।

मैंने भी डाक्टर को धन्यवाद दिया। अच्छी तो हो गई, पर बहुत कमजोर थी। डाक्टर प्रेमनाथ की सेवा वैसी ही बनी थी।

मैं मना करती, पर वे कहते—अभी दो-चार दिन चलने दीजिये, अभी आप बहुत कमजोर हैं।

भाई यह मानना पड़ेगा कि डाक्टर सेवाकार्य ऐसे करते थे कि मुँह से बात निकालने की आवश्यकता ही नहीं होती। मेरे पहले उठते और मेरे बाद सोते। रात में भी कई बार देख जाते कि कहीं कम्बल तो नहीं हट गया, कहीं प्यास तो नहीं लगी। सब कुछ हुआ, पर उनके स्वभाव में कुछ फ़र्क़ नहीं आया। कभी बिना कारण नहीं बोलते थे। मैं तो अब उनके सामने एक बच्ची की तरह हो गई थी। जैसा कहते, वैसा करती। उनके सामने भय या लज्जा कुछ नहीं थी। इन चालीस-पैंतालीस दिनों में वे कितने निकट आ गये थे। अब मैं उठने-बैठने लगी, पर बिस्तरे की चादर बदलना, कपड़ा बदलना सब वही करते थे। अब भी खड़ा होने पर पैर काँपते। फिर उनके सामने क्या लज्जा थी? जब मैं सुधबुधहीन थी, तब वे ही तो मुझे सँभालते थे। सुना कभी-कभी तीन-तीन चार-चार बार साड़ी बदल देनी पड़ती। साड़ी कम पड़ी तो अपनी धोतियाँ लाकर पहनाईं।

मैं धीरे-धीरे स्वस्थ होने लगी। एक दिन मैंने कहा—डाक्टर साहब, अब बहुत हुआ, अब आप मेरे कामों को न करें। मैं लगड़ी हो गई हूँ।

मैंने इन बातों को बहुत ही नम्रता से कहा था। इनमें कहीं किसी प्रकार का तिरस्कार या भर्त्सना नहीं थी, पर न मालूम क्यों डाक्टर साहब को ये बातें बुरी लगीं। उनकी बड़ी-बड़ी आँखें डबडबा गईं, रुँधे हुए स्वर से बोले—क्या मैं आपका कोई नुक़सान करता हूँ?

अरे यह प्रश्न कहाँ से पैदा हुआ। मैं डाक्टर के चेहरे की तरफ़ देखती सन्न-सी रह गई। अरे, यह तो क़रीब-क़रीब रोना

चाहते हैं। मैंने सोचा जरूर मेरे लहजे में कोई बात थी, स्वल्प-भाषी डाक्टर को इसलिये बातें बुरी लग गईं। मैंने सकपकाकर कहा—अरे डाक्टर साहब आप मेरा नुकसान करेंगे, ऐसा तो अकल्पनीय ह। आप न होते तो मैं ज वित नहीं रह सकती थी।

डाक्टर का तना हुआ चेहरा खिल उठा।

मैंने कहा—अब तो मैं अच्छी हो गई हूँ, इसलिये कह रही थी......।

डाक्टर ने कहा—आपकी सेवा में मुझे सुख मिलता है, आप क्यों समझती हैं इससे मुझे तकलीफ है ?

मैंने आँख फाड़कर डाक्टर को देखा। निहायत शरीफ आदमी, भद्रता की प्रतिमूर्ति ? मैंने कहा—ठीक ही है आपका तो सारा जीवन दूसरों की सेवा के लिये है, पर मेरा भी तो कर्त्तव्य है।

उस दिन बात वहीं तक रही। डाक्टर सब काम पूर्ववत करने लगे। मैं मना करती, रोकती, पर वे ज्यों ही नाराज़ होते, मैं चुप कर जाती। हर बात में वही कह देते—आप कमजोर हैं।

अब मैं अच्छी हो गई, फिर भी हमारे कमरे में ही रहते। रात को सोने के लिये अपने कमरे में जाते। खाना पकाने के लिये एक लड़का रक्खा था।

मैं अपना अखबार आदि पढ़ती। वे अपनी बेंत की सस्ती कुर्सी पर बैठकर अपना पढ़ते। न मैं उनसे बोलती, न वे मुझसे।

कुछ दिन ऐसे बीते। अब ४३ का अन्त हो चुका था। ४४ लग चुका था। ठंड थी। रात के समय हम दोनों खाना खा चुके थे। लड़के ने आकर बर्तन उठाया और कहा—माँजी ने आज खाना नहीं खाया... ।

डाक्टर बोल उठे—नहीं तो, खाया तो......।

नौकर ने फिर भी कहा—माँजी ने बहुत कम खाया... ।

नौकर चला गया। मैंने कहा—कोई बात नहीं, कटोरी में कुछ शक हुआ था।

मक्खी थी ? बड़ा गन्दा है यह लड़का।

गिरी तो मक्खी ही थी, पर मैंने कहा—नहीं योंही शक था।

ओह—डाक्टर एक पत्रिका पढ़ने लगे। इन दिनों रोज खाने के बाद ही डाक्टर अपने कमरे में चले जाते थे। मैं मजे से कंबल ओढ़कर सिरहाने लालटेन रखकर पढ़ती, फिर सो जाती। पर डाक्टर के कारण मुझे भी कुर्सी पर बैठकर पढ़ना पड़ा। कुछ-कुछ नींद भी आने लगी।

मैंने डाक्टर की तरफ़ जितनी बार देखा, वे उठने का नाम नहीं ले रहे थे। और जितनी बार मैंने उनकी तरफ देखा मैंने उनको मेरी तरफ़ एक अजीब पीड़ित दृष्टि से देखते हुए पाया।

मेरी नींद उचट गई। अब मैं सचमुच पढ़ने लगी।

एकाएक डाक्टर ने जोर से हाथ की किताब बन्द कर दी। मैंने समझा अब वे जा रहे हैं, पर नहीं।

उन्होंने मेरा नाम लेकर पुकारा—उर्मिलाजी...।

जी—मैंने आश्चर्य से कहा।

अब आन्दोलन तो खतम हो गया।

जी हाँ...।

कुछ देर डाक्टर चुप रहे। उनकी कलाई में बँधी हुई घड़ी की टिकटिक साफ़ सुनाई पड़ने लगी, और साथ ही शायद उनके हृदय की धड़कन। या यह मेरे हृदय की धड़कन थी ?

डाक्टर ने कहा—मैं एक बात सोच रहा था...।

फिर चुप्पी।

मैंने कहा—वह क्या ?

यह कि जो सम्बन्ध हम एक दूसरे के साथ बताया करते हैं, वह यदि सच हो जाता तो अच्छा रहता...।

मैं कुछ-कुछ आँच कर रही थी कि एक दिन यह बात आने ही वाली है। वे मेरे चेहरे की तरफ ऐसे ताकने लगे, मानो इस प्रश्न के उत्तर पर उनका जीवन निर्भर है। मैंने इस समय क्या अनुभव किया ? आश्चर्य ? नहीं। भय ? कतई नहीं। मैंने जो अनुभव किया उसके सबसे निकट शब्द शायद दया है। कैसे मैं उस व्यक्ति के अनुरोध पर एकाएक ना कर दूँ जिसने मेरी जान बचाई। डाक्टर के विरुद्ध तो एक भी शिकायत मेरे मन में नहीं थी।

मैंने कहा—पर डाक्टर साहब जो सम्बन्ध शुरू से आखिर तक बनावटी है, जो केवल अभिनयमात्र है, वह सत्य कैसे हो सकता है ?

बनावटी को सत्य करने में कितनी देर लगती है ? कोई विधाता का विधान तो नहीं है। बदलते कितनी देर लगेगी—कहते-कहते कोई विचार एकाएक उनके दिमाग़ में आया, वे भय चकित हो गये, जैसे भागने के लिये तैयार होकर बोले—कहीं आप विवाहिता तो नहीं हैं। मैंने अब तक यह बात पूछी ही नहीं।

नहीं—मैंने दृढ़ता से कहा।

उनको जैसे कुछ तसल्ली हुई, बोले—लेकिन आप किसी की वाग्दत्ता होंगी।

मैंने गहरी साँस लेते हुए कहा—नहीं।

उन्होंने कहा—फिर ?

मैंने कहा—ऐसे ही...., आपको जो कुछ कहना हो कहिये।

इसके बाद जो हुआ उसका मैं क्या वर्णन करूँ। पल मारते ही मैंने देखा डाक्टर मेरे पैर पकड़े हुए हैं और कह रहे हैं—फिर

क्यों आप मुझे अस्वीकार कर रही हैं....क्या मैं इतना नालायक़ हूँ... मैंने तुमको जब से देखा, तब से मैं तुम्हारा ग़ुलाम हो चुका हूँ—और न मालूम क्या क्या।

मेरी अजीब हालत हुई। न मुझसे ना ही कहते बन रहा था, न हाँ। डाक्टर से बढ़कर धीर, बीर, सज्जन की मैं कल्पना नहीं कर सकती थी, फिर भी पत्नी होने की बात दूसरी थी। डाक्टर गुणों के खान थे, पर न मालूम क्यों मैं उस तरीक़े से उनके प्रति आकृष्ट नहीं थी जिस प्रकार आकर्षण का नतीजा पतिपत्नी-सम्बन्ध होता है।

उन्होंने मेरा पैर पकड़ रक्खा था। उनके दोनों हाथ मेरे पैरों पर बँधे थे पर मुझे किसी प्रकार का रोमांचकर या सुखकर अनुभूति नहीं हो रही थी। बल्कि मैं कुछ सिमटी ही जा रही थी।

मैंने कहा—रुकिये, रुकिये, डाक्टर ?

क्यों ?—डाक्टर ने मेरे मुँह की ओर देखा।

मैंने धीरे से अपने पैरों को छुड़ाते हुए कहा—पहले सुन तो लीजिये......।

डाक्टर कुछ दुखी हुए, पर जाकर अपनी कुर्सी पर बैठ गये। मेरी हरिकैन लालटेन पर न मालूम कौन-सा अज्ञातनाम पंखदार कीड़ा हमला कर रहा था, बीच-बीच में उसके पंख चिमनी से टकराते थे, और फट्ट-फट्ट आवाज़ हो रही थी। हर दफ़े उसका हमला पहले से कुछ धीमा पड़ रहा था, और मालूम होता था कि शीघ्र ही यह कीड़ा चिमनी से टकराकर गिर पड़ेगा। बाहर से साँय-साँय आवाज़ आ रही थी। डाक्टर ने हृदय-निवेदन का अजीब समय चुना था।

मैंने डाक्टर की ओर देखा तो मेरे मन में दया उमड़ आई। नहीं मैं डाक्टर के प्रति अभद्र व्यवहार करने की बात तो दूर रही, किसी भी प्रकार चोट पहुँचाने को तैयार नहीं थी।

डाक्टर ने कहा—हाँ, सुनाइये....।

अभी डाक्टर ने मुझे तुम कहा था, अब फिर आप कहा। यह आप शब्द मुझे अच्छा नहीं मालूम हुआ। मैंने सोचा कहीं मैंने डाक्टर साहब के हृदय को किसी प्रकार चोट तो नहीं पहुँचा दी। एक कष्टकर व्यथा से मेरा हृदय आतुर हो गया।

मैंने कहा—बात यह है डाक्टर साहब मैंने अपना हृदय एक को अर्पित कर दिया... ।

डाक्टर का चेहरा पीला पड़ गया, बीच में ही बात काटकर कहा—तब तो फिर सवाल ही नहीं उठता, माफ़ कीजिये मैंने आवेश में ग़लती की.... ।

जिस समय डाक्टर ने ऐसा कहा उसी समय मैंने देखा वह पंखदार कीड़ा हमलों से पस्त होकर चिमनी से टकराकर मेज़ पर गिर पड़ा, और फिर हिला भी नहीं मर गया। मेरा मन दया से और भी ओत-प्रोत हो गया। मैंने देखा डाक्टर उठ रहे हैं। मैंने बाधा देकर कहा—जाइये मत, पूरा सुन लीजिये। मैं और कुछ भी हो जाऊँ पर कृतघ्न नहीं होना चाहती।

डाक्टर के चेहरे का उड़ा हुआ रंग फिर वापस आया, पर उनको मालूम नहीं था मैं क्या कहने जा रही हूँ। इसलिये वह रंग फिर कुछ चला गया। सच बात तो यह है कि उनका चेहरा इस समय विरोधी भावनाओं का रणक्षेत्र बना हुआ था।

मैंने कहा—पर मैंने अपना हृदय जिसे अर्पित किया उन्होंने उसे ठुकरा दिया। अब वे कहाँ हैं पता नहीं, मुझे यह भी मालूम नहीं कि वे जीवित हैं या नहीं? यदि वे जीवित भी हों, तो वे कभी मुझे स्वीकार करेंगे या नहीं? यह मैं नहीं कह सकती।

क़रीब-क़रीब सोलहो आने यही संभावना है कि वे मुझे क्या किसी भी स्त्री को स्वीकार नहीं करेंगे ....।

डाक्टर का चेहरा कौतूहल से दीप्त हो उठा। उन्होंने कहा—मालूम होता है वे कोई परम आदर्शवादी पुरुष हैं।

—वे एक पुराने क्रान्तिकारी हैं। पुराने टाइप के क्रान्तिकारी हैं। एक समय शायद ऐसे लोगों की देश को ज़रूरत थी, पर इसी युग में वे Anachronism हैं। इस नवीन युग में नारी नर के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर काम करेगी। जो नारी को यह सम्मान देने में आनाकानी करेगा वह Subjectively कितना भी क्रान्तिकारी हो, उसमें प्रतिक्रियावाद और दकियानूसी का पुट है।

मैंने इन बातों को ज़रूरत से अधिक जोश के साथ कहा, पर डाक्टर ने मेरे मत का शायद समर्थन किया, बोले—पर आप जिसे पुराना टाइप बता रहे हैं, वह आदर्श रहेगा। कम से कम हमारे भारतवर्ष में।

मैं तैश में आ गई। मैंने कहा—डाक्टर साहब आपका भारतवर्ष कोई दुनिया से न्यारा नहीं है। जाने दीजिये। यह टाइप भारत का आदर्श रहेगा तो भारत का कभी उद्धार भी न होगा। क्या लेनिन से बढ़कर भी कोई क्रान्तिकारी हो गया है ? फिर जाने दी जाय दूर की बात यहीं आपके भारतवर्ष में हमने १६४२ की क्रान्ति में जिस टाइप के क्रान्तिकारियों तथा क्रान्तिकारिणियों को विकसित किया है क्या वे पहले के क्रान्तिकारी टाइपों से किसी प्रकार निकृष्ट हैं ? मैं तो नहीं मानती।

डाक्टर ने कहा—मैं भी नहीं मानता, पर मैं तो यहाँ की जनता की धारणा की बात कर रहा था।

इस समय उस कीड़े की लाश के पास उसी प्रकार का एक दूसरा कीड़ा मड़रा रहा था। शायद यह उसी की कीड़ी हो। मड़-

राते-मड़राते यह कीड़ी मरे हुए कीड़े के पास बैठ गई। शायद उसने मृत कीड़े को प्यार किया। फिर वह उठी, और उसने भी चिमनी पर हमला शुरू किया। मैं समझ गई कि यह कीड़ी भी कुछ देर में वहीं गिर पड़ेगी।

मेरा मन उस कीड़ी को देखते-देखते उदास हो गया। शायद डाक्टर ने कुछ कहा। मैंने सुना नहीं। डाक्टर ने, जिधर मैं देख रही थी, उधर देखते हुए कहा—न मालूम ये कीड़े कहाँ से आ गये, आजकल तो इनका मौसिम नहीं है।

रात अधिक हो रही थी। कड़ाके की सर्दी थी। मैंने कहा—तो डाक्टर साहब यह परिस्थिति है, अब जो कहिये···

डाक्टर ने कहा—कहना तो आपको है, मैं तो कह चुका।

मैंने डाक्टर को ध्यान से देखा। ओह कितने अच्छे, कितने शरीफ़ ? काश, यदि कुछ खराब होते तो मैं इन्कार कर देती।

मैंने कहा—जो कुछ मैंने कहा उस पर भी आप मुझे पत्नी रूप में लेने को तैयार हैं ?

डाक्टर ने बिना किसी हिचकिचाहट के कहा—ज़रूर, उससे क्या फ़र्क़ आता है ? फिर एकाएक जोश में आकर कहा—मैं कृतकृत्य हो जाऊँगा।

डाक्टर के चेहरे से सचमुच कृतकृत्यता के भाव टपक रहे थे।

उस कीड़ी का चिमनी पर हमला जारी था।

मैंने कहा—डाक्टर साहब !

—उर्मिला—डाक्टर ने अत्यन्त स्नेह से कहा।

—पर मैं तो समझती हूँ उस प्रत्याख्यान के बाद मैं अब आगे किसी से प्रेम नहीं कर सकती। मुझे तो ऐसा ज्ञात होता है कि जिन तंतुओं से प्रेम किया जाता है, मेरे वे तंतु ही जाते रहे। रहा मेरा शरीर, सो है। आप न होते तो मैं जीवित ही

नहीं रहती। यह शरीर आप ही का है, आप ही ने इसे बचाया है, आप इसे ले सकते हैं।

इतना कहकर मैं सिसकने लगी। डाक्टर उठकर मेरे पास आये और मेरे बालों को सहलाने लगे, फिर रूमाल निकालकर मेरी आँखों को उसी प्रकार सावधानी से पोंछ लिया जैसे वे टायफायेड के दिनों में मुझे दवा या फल का रस पिलाने के बाद मुँह पोंछ देते थे। मैं शान्त हो गई। उन्होंने मुँह झुकाकर पहले मेरे एक कपोल फिर दूसरे कपोल का चुम्बन किया। मैंने कुछ नहीं कहा। वे बड़ी देर तक मेरे बालों को सहलाते रहे। मुझे अब कुछ-कुछ अच्छा लग रहा था। फिर चूमने के लिये झुके, पर मैंने अब की बार मुँह हटाकर कहा—आज और नहीं, कल...।

उन्होंने मुँह हटा लिया, और कहा—कल? क्या कल?

मैंने कहा—कल निश्चित उत्तर दूँगी, रात भर सोचने का समय दीजिये।

उन्होंने कहा—खैर कहती हो जाता हूँ। तुम्हारी बात मेरे लिये आज्ञा है। पर यह कहे देता हूँ जवाब जो मिलना था मुझे मिल गया, अब मैं कुछ नहीं सुनूँगा। अगर तुमने ना कहा तो मैं खड़े-खड़े तुम्हारे सामने जान दे दूँगा···।

वे अपनी किताब लेकर चले गये। जाते समय एक गहरी साँस खींचकर किवाड़ धीरे से भेड़ते गये।

वे जब चले गये तो मैंने अपने को अजीब हालत में पाया। एक वह रात थी जब मैं एक पुरुष के निकट हृदय निवेदन करने गई थी, उसने जूतों के ठोकर से भगा दिया था। एक यह दिन है जब एक पुरुष, पुरुष ही क्यों त्यागी, तपस्वी, विद्वान पुरुष, यदि मैं अपनी पक्षपातदृष्टि को छोड़ दूँ तो उस पुरुष से यह पुरुष कुछ अच्छा ही बैठेगा, मेरे पैरों पर गिर पड़ा था, और मैं

यदि उसे पति रूप में स्वीकार करूँ तो अपने को कृतकृत्य समझेगा। उस व्यक्ति ने मेरे नारीत्व का तथा व्यक्तित्व का अपमान किया था, और इसने मुझे नारीत्व के सम्मान के सर्वोच्च सिंहासन पर बैठाना चाहा है।

होना तो यही चाहिये था कि मैं उस व्यक्ति को घृणा करूँ और इसे प्यार।

दिमाग़ यही कहता था, पर हृदय....।

हृदय लोहूलुहान पड़ा था।

क्या करती? समझ में नहीं आता था।

बहुत कोशिश की कि कौशिकजी पर क्रोध आये, पर नहीं आया। उन्होंने मेरा ही नहीं समस्त नारी जाति का अपमान किया, वे पुराने टाइप के क्रान्तिकारी हैं बहुत कुछ सोचा, पर क्रोध नहीं आया।

मैंने लालटेन की ओर देखा तो उसके पास मेज़ पर अब दो कीड़ों की लाश थी। क़रीब-क़रीब अगल-बगल। मृत्यु में भी ये कीड़े कितने महान् ज्ञात होते थे।

मैंने उठकर दोनों कीड़ों को बिलकुल सटाकर लेटा दिया। न मालूम ऐसा करने में मुझे क्या मज़ा मिला। फिर मैंने उनको अपने एकमात्र रेशमी रूमाल से ढक दिया।

इसके बाद मेरा मन कुछ शान्त हुआ। मैं लेट गई। नींद तो ऐसी ही कुछ आई।

एक स्वप्न देखा कि डाक्टर जैसे कीड़ा बनकर हमारी लालटेन की चिमनी पर सिर मार रहे हैं। फिर देखा कि यह चिमनी जैसे मैं ही हूँ। मैंने साफ़ देखा कि हरीकैन का ऊपर वाला हिस्सा जैसे मेरा सिर है।

इस स्वप्न को कई बार देखा। जितने दफे देखा भय के मारे रोंगटे खड़े हो गये, पसीना-पसीना हो गई। जब कई बार यही स्वप्न देखा तो मैं उठ बैठी।

सबेरा हो चुका था।

जब से बीमार पड़ी थी, डाक्टर सबेरे ही आते थे। आज भी आये। पर अजीब हाल था। ऐसा मालूम हुआ जैसे रात भर सोए नहीं। मुझे वह स्वप्न स्मरण हो आया। मैं डर गई कि पता नहीं क्या हो।

मैंने कहा—डाक्टर साहब !

—उर्मिला !

—आप रात को सोए नहीं ?

—नहीं, एक किताब पढ़ता रहा।

—किताब पढ़ते रहे ?—मैंने आश्चर्य से पूछा—रात भर आप किताब पढ़ते रहे ?

—हाँ, क्या करता नींद नहीं आई। डाक्टर ने कातर स्वर में कहा।

मैं चुप रही, फिर मैंने एकाएक कहा—डाक्टर साहब, मैंने सोच लिया।

डाक्टर जैसे कुर्सी से उछल पड़े। मैं कुछ झिझकी, फिर बोली—मैंने सोच लिया कि मैं आपके प्रस्ताव को अस्वीकार नहीं कर सकती।

डाक्टर कृतज्ञता से गदगद हो गये। मेरी ओर बढ़े।

अब इसके आगे लिखने की क्या जरूरत है। पढ़नेवाले अनुमान कर लेंगे।

× × ×

इसके दो साल बाद की बात है।

एकाएक रास्ते में कौशिकजी से भेंट हो गई। वे शायद अभी दो-चार दिन हुआ छूटे थे।

—तारा! उन्होंने पुकारा।

मैंने मुड़कर देखा तो वे थे। अजीब परिस्थिति थी। उनका अब वह सुन्दर स्वास्थ्य नहीं था। पर चेहरे पर वही बचकाना भाव था। चेहरे पर तेज दमक रहा था। यौवन कुछ ढला हुआ था, पर प्राण उसी प्रकार तेजस्वी।

मैंने कहा—ओह कौशिकजी!

—हाँ, मैं ही हूँ। अभी दस दिन हुआ छूटा तो ऐसे कामों में फँस गया कि कुछ कहने का नहीं। अच्छी तो हो? बहुत-सी बातें हैं। फिर उन्होंने जरा धीरे से कहा—अब मैं वह नहीं हूँ।

न मालूम क्यों मुझे ऐसा मालूम हुआ कि मैं गिरने जा रही हूँ, एकाएक मेरे पैर कमजोर हो गये हैं। पर मैंने अपार इच्छा-शक्ति लगाकर सँभाल लिया।

खैरियत है कि उन्होंने नहीं देखा। वे शायद पहले से कुछ अधिक सरल हो गये थे।

मैंने कहा—चलिये पास ही घर है। यहाँ क्या बात होगी?

उन्होंने उत्साह के साथ कहा—चलो, चलो, तुम्हारे भाई भी होंगे।

मैंने कुछ नहीं कहा।

मैं आगे-आगे चली, पीछे-पीछे वे चले।

घर पहुँचे तो वे बिलकुल बेखटके मेरे साथ भीतर घुसते चले गये।

सामने पलने पर बच्चा लेटा था। पास ही नौकरानी खड़ी थी, मैंने उससे पूछा—बच्चे का अब क्या हाल है?

नौकरानी ने कहा—अच्छा है ?

कौशिकजी ने कहा—किसका बच्चा है ? बड़ा अच्छा है।

वे चुपचाप बच्चे को देखने लगे। उनका चेहरा खिल गया था।

उन्होंने फिर कहा—तारा यह बच्चा किसका है ?

मैंने कहा—चलिये उस कमरे में कुछ जलपान कीजिये, बच्चे को सोने दीजिये।

मैंने नौकरानी को इशारा किया वह जलपान लेने गई।

हम दोनों बग़ल के कमरे में गये। कौशिकजी से भेंट न होती तो अच्छा था। वे तो समझ रहे थे कि इन चार वर्षों में दुनिया जहाँ की तहाँ है। वे वहीं से बात करना चाहते थे जहाँ से बात छूटी थी। पर इस बीच में दुनिया कहाँ से कहाँ जा चुकी थी।

जलपान आ गया। कौशिकजी ने जलपान करते हुए कहा—अबकी मकान बड़ा लिया। और सब कहाँ हैं, किसी को नहीं देख रहा हूँ।

मैं समझ गई वह मेरे भाइयों को खोज रहे हैं।

मैंने कहा—कौशिकजी, आप इन्दरा को जानते थे ?

—हाँ, क्यों, बड़ी अच्छी लड़की थी। रईस घर की होते हुए भी काम खूब करती थी....।

मैंने कहा—वह मर गई।

खाना रोकते हुए उन्होंने कहा—बहुत ही सुशीला लड़की थी। बड़ा अफ़सोस हुआ—कहकर कुछ जैसे सोचा, फिर खाने लगे। मैंने एक बार सोचा कि बता दूँ कि किस प्रकार वह मरी है, पर सोचा कि इससे क्या लाभ होगा ? वह जिस लोक में चली गई, उसमें उसे इसकी कोई जरूरत नहीं कि कौशिकजी उसके

सम्बन्ध में क्या सोचते हैं। ऐसे सत्य के गड़े मुर्दे को उखाड़ने से क्या लाभ जिसमें किसी पक्ष को लाभ नहीं, बल्कि जो जीवित पक्ष है, कौशिकजी, उनको नुक़सान ही है। और इन्दिरा? वह तो राग-द्वेष के पर जा चुकी थी। अब कौशिकजी चाहे प्रेम करें या द्वेष।

इस प्रकार एक सत्य को तो मैं दबा गई, पर इससे कटुतर दूसरा सत्य तो मुझे बताना ही था। अब भी मेरे कानों में कौशिकजी की वे बातें—अब मैं वह नहीं हूँ—गूँज रही थी।

मैंने कहा देर करने से क्या फ़ायदा। अब बता दूँ। ज्योंही उन्होंने जलपानकर पानी पी लिया त्योंही मैंने एकाएक कहा—वह बच्चा मेरा है, अब मैं विवाहित हो गई हूँ।

कौशिकजी ने मुझको ऐसे देखा जैसे कोई अविश्वासनीय बात थी, फिर उन्होंने शायद मेरे माथे के सिन्दूर को देखा। सब समझ में आ गया। उन्होंने शान्ति के साथ बात सुन ली। शायद वैसी ही शान्ति के साथ सुना जैसे दस साल पहले एक षड्यंत्र के मामले में जज ने उन्हें आजीवन कारावास सुनाया था, तब सुना था ब्यौरे में उन्हें दिलचस्पी नहीं थी।

थोड़ी देर इधर-उधर बातचीत हुई, पर बात कुछ जमी नहीं। हमारे बीच में चार साल की घटनायें थीं। जिच ही रहा।

वे उठकर चले गये। कहकर गये कि फिर आयेंगे, पर आये नहीं।

अखबारों में कभी-कभी पढ़ती थी कि वे गाँवों में दौरा कर रहे हैं।

फिर सुना बीमार होकर भवाली गये। सोचा पत्र भेजूँ। खुद जाऊँ। पर सोचा क्या लाभ? उन्हें बचाकर मैं क्या करूँगी।

मैंने तब से अखबार पढ़ना ही छोड़ दिया। डाक्टर बहुत कृपालु हैं पर मैं अकारण चिढ़ती हूँ, उन पर नाराज़ होती हूँ। फिर मुझे डाक्टर पर दया आ जाती है। कभी-कभी मुझे ख़्याल आता है कि शायद मैंने कौशिकजी का जीवन नष्ट कर दिया। पर मेरा किसने नष्ट किया? इन्दिरा का किसने नष्ट किया? इसके पीछे कौन-सा गंभीर षड्यन्त्र है?

———